

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥

वर्ष १३

गोरखपुर, आषाढ़ १९९६, जुलाई १९३९

गोपी-प्रेम

दधि बेचत ब्रज गङ्गिन किरी ।
गोरस लेन बोझावत कोल, ताकी सुधि नेकहु न करै ॥ १ ॥
उगरी बात सुनन नहिं अरुणि, कहि कहि ये घर न ।
दूध दहो हों लेत न कोल, प्रसन्न है ।
बोले उरति पुनि लेहु गोमलहिं घर न ।
सूरदासको रूप सारस भले । तेकी सेवामें
देर हो ।

म भक्ति
नी...
उनके लिये
जो भी करें ।
युष्मत्तमों में भी रहती
यज्ञ ल...
चटाई, उसके
उत्ते...
विष...
सौमन्तिको भा
उ...
हूँ थे, परन्तु उनके
एक...
कलक अवश्य पड़नेपर भी
को आकर सी...
में लग गये...
रहते...
करने...
बड़ा उत्सव-मरणागत (४) वह जीवें

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक-पूज्य स्वामीजी श्रीमोलेबाबाजी)

(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

[मणि ११]

(गताङ्गसे आगे)

हे संन्यासियो ! इस प्रकार सांख्य-योगरूप उपायसे उत्पन्न हुए ब्रह्मज्ञानसे अधिकारी पुरुषोंको स्वयंज्योति आत्मदेव प्रतीत होता है। स्वयंज्योति आत्माको सूर्य-चन्द्रादि तेज प्रकाश नहीं कर सकते, किन्तु स्वयंज्योति आत्मा ही उनको प्रकाश करता है। भाव यह है कि सूर्यादि बाह्य तेजोंको प्रकाश करनेवाला चिदाभासयुक्त अन्तःकरणकी वृत्तिरूप ज्ञान है; वह वृत्तिरूप ज्ञान भी जब स्वयंज्योति आत्माका प्रकाश नहीं कर सकता तो वृत्ति-ज्ञानके विषय सूर्यादि बाह्य जड तेज स्वयंज्योति आत्माका प्रकाश न कर सकें तो इसमें कहना क्या है। हे संन्यासियो ! ऐसा स्वयंज्योति आत्मा ही सर्वजीवोंके हृदयमें स्थित है, वही जीवोंमें स्थित है और वही आत्मसाक्षात्कार-रहित अविद्याका नाश करके 'हंस' प्रभाव होता है। वही परमात्मदेव वही जठराग्निरूप है और वही ऐसे परमात्माका जो अधिकारी आत्मसाक्षात्कार करता है, वह उल्लंघन कर ब्रह्मभावको प्राप्त

जानता है, सर्वजगत्का कारण है, कालका भी काल है और सर्वगुणोंसे सम्पन्न है। परमात्मदेव ही क्षेत्रज्ञरूप जीवका, मायाका तथा मायाके सत्त्व आदि गुणोंका पतिरूप है। परमात्मदेव ही जीवोंको पुण्य-पापरूप कर्मोंका सुख-दुःखरूप फल देता है। परमात्मा ही जीवोंके बन्ध-मोक्षका कारण है। वही जगत्की व्यवस्था और जगत्का पालन करता है। हे संन्यासियो ! प्रपञ्चरूपसे देखा हुआ परमात्मदेव जीवोंको बन्धकी प्राप्ति कराता है और जन्म-मरणादि विकारोंसे रहित देखा हुआ परमात्मा जीवोंको मोक्षरूप अमृतकी प्राप्ति कराता है। परमात्मदेव अपने ज्ञानस्वरूपमें स्थित होकर सर्व जगत्का पालन करता है और उसे अपनी आशामें लब्धता है। परमात्मदेवके ऐश्वर्यसे अधिक ऐश्वर्यवाला कोई नहीं है। ऐसे परमात्माका ही अधिकारियोंको अपने आत्मारूपसे जानना चाहिये। हे संन्यासियो ! मैं श्वेताश्वतर मुनि परमात्माकी जिस प्रार्थनासे आत्मसाक्षात्कारको प्राप्त हुआ हूँ, इस प्रार्थनाको मैं तुमसे कहता हूँ; उसे सुनो—

प्रार्थना—हे परमात्मदेव ! आप पूर्व हिरण्यगर्भको उत्पन्न करके उसको ज्ञानसहित चारों वेद देते हैं, आपकी प्राप्ति केवल आत्मज्ञानसे ही होती है ! मैं सुमुग्ध आपकी शरण आया हूँ। आप हस्त-पादादि अवयवोंसे रहित हैं, क्रियासे रहित हैं, शान्तस्वरूप हैं, सुखरूप हैं, सर्व जीवोंके आत्मारूप हैं, सर्व दोषोंसे रहित हैं, कारणसे रहित हैं और सेतुके समान मोक्षरूप अमृतको धारण

लोकमें 'मैं ब्रह्म हूँ' इस

दूसरा कोई उपाय

किन्तु जीव-ब्रह्मका

अधन है;

ज्ञान

करनेवाले हैं ! जैसे काष्ठोंको जलाकर अग्नि अपने स्वरूपमें स्थित होता है उसी प्रकार कार्यसहित मायारूप उपाधिसे रहित होकर आप अपने अद्वितीय रूपमें स्थित होते हैं । ऐसे आप अद्वितीय परमात्म-देवकी शरणमें मैं मुमुक्षु आया हूँ !

हे संन्यासियो ! जब मैंने परमात्मदेवसे इस प्रकार प्रार्थना की, तब परमात्मदेवने कृपा करके मुझे मोक्षका कारणरूप आत्मज्ञान प्रदान किया । उस ज्ञानके प्रभावसे मैं श्वेताश्वतर ऋषि परमात्मदेवको अपने आत्मारूपसे देखने लगा । परमात्माके ज्ञान बिना जीवोंको कभी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, किन्तु परमात्माके ज्ञानसे ही मोक्षरूप अमृतकी प्राप्ति होती है ।

आत्मज्ञान बिना मोक्षका अभाव

हे संन्यासियो ! यह देहधारी जीव यदि कभी चर्मके समान आकाशको एकत्र कर ले, तो आत्मज्ञान बिना भी मोक्षको प्राप्त हो जाय; परन्तु जैसे चर्मके समान आकाश एकत्र नहीं हो सकता, उसी प्रकार आत्मज्ञान बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती । इस श्रुतिमें यही बात कही गयी है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।

तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

जब मनुष्य चर्मके समान आकाशको एकत्र कर लेंगे, तो परमात्मदेवके बिना जाने दुःखोंकी निवृत्ति हो जायगी । हे संन्यासियो ! जिस परमात्माका मैंने तुमको उपदेश किया है, उस परमात्माको ही मुमुक्षुओंको जानना चाहिये । वह परमात्मा अपनी मायाशक्तिसे उस सर्व जगत्का कारण होता है, वही मेरा, तुम्हारा और सब स्थावर-जड़मका आत्मारूप है और सर्व भेदसे रहित है । हे संन्यासियो ! जैसे शुद्ध आकाशमें नाना प्रकारके मेघ कल्पित हैं, उसी प्रकार

परमात्मामें पूर्वोक्त काल-स्वभावादि कारण कल्पित हैं । जैसे भ्रान्त पुरुषको आकाशमें गन्धर्वनगर प्रतीत होता है, उसी प्रकार अविवेकी पुरुषोंको परमात्मदेवमें मायासहित जगत् प्रतीत होता है । जैसे स्वप्न-अवस्थामें एक ही स्वप्नद्रष्टा अनेकरूप हो जाता है, उसी प्रकार एक ही परमात्म-देव अविद्या-दोषसे अनेकरूप हो जाता है । जैसे सुषुप्ति अवस्थामें नेत्रादि इन्द्रियों और रूपादि विषयोंके लय होनेपर जीव किञ्चित् भी द्वैत-प्रपञ्चको नहीं देखता, उसी प्रकार मोक्ष अवस्थामें आत्मज्ञानसे कार्यसहित अविद्याके नाश होनेपर चिदान् पुरुष किञ्चित् भी द्वैत-प्रपञ्च नहीं देखता । जैसे जागनेपर सर्व स्वप्न-पदार्थोंका लय हो जाता है, उसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्माके ज्ञानसे अधिकारियोंका सर्व प्रपञ्च लय हो जाता है । ऐसे आत्मज्ञानका कल्याणकामी पुरुषोंको अवश्य सम्पादन करना चाहिये ।

आत्मज्ञानकी दुर्लभता

हे संन्यासियो ! जिस आत्मज्ञानको मैं तुमको उपदेश किया है, वह आत्मज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है । क्योंकि नाना प्रकारके दुष्टोंके प्रसङ्ग हुए देवता भी मनुष्योंको उपदेश नहीं करते, किन्तु अनेक उनके लिये घर देते हैं । जो अधिकारी वर देते हैं, जो भी करें । होता, उसीको सत्यपाशमें मनुष्योंमें भी रहती आत्मज्ञानका उपदेश करते हैं । उनके पाशमें बँधे हुए यमराजने न उपदेश दिया था । यह वीरोंको जानते ही हो ।

शङ्का-हे भगवन् ! मैंने सुना है, परन्तु उनके है, तो एक कलक अवश्य पड़नेपर भी क्यों की आकाशमें लग गये उनके रहते करने-तीकी सेवकों बड़ा उत्सव-स्वर्णागत (४) वह जीवों देर हो

मेरे आश्रमपर आये हैं। यदि मैं इनको ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं करूँगा, तो दूसरा कौन करेगा? मेरे समान दूसरेमें ब्रह्मवेत्तापन निश्चित नहीं है। दध्यङ् अथर्वण ऋषिके समान मैं श्वेताश्वतर ऋषि भी सब जीवोंके उपकारके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ, इसलिये इन अतिथि संन्यासियोंसे ब्रह्मविद्या गुह्य रखना उचित नहीं है। ऐसा विचार कर मैंने तुमको ब्रह्मविद्याका उपदेश किया है। इसके सिवा एक बात और भी है कि जो विद्वान् अधिकारियोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश करता है, उसपर परमेश्वर भी प्रसन्न होता है। इस कारण भी मैंने तुमको दुर्लभ ब्रह्मविद्याका उपदेश किया है।

देवी-हे डोरूशङ्कर! श्वेताश्वतर ऋषि इस प्रकार संन्यासियोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश करके चुप हो गये! वेद-वेदाङ्गके तात्पर्यको जाननेवाले इन श्वेताश्वतर ऋषिने तपके प्रभावसे और ईश्वरके प्रसादसे आत्मसाक्षात्कारको प्राप्त होकर अपने आश्रममें आये हुए अत्याश्रमी परमहंस संन्यासियोंको आत्मज्ञानका उपदेश किया था। इस लोकमें ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, आश्रमियोंसे परमहंस संन्यासी श्रेष्ठ श्रुतिमें उनको अत्याश्रमी कहा है। अत्याश्रमी संन्यासी श्वेताश्वतर मुनिसे उपदेश होकर सुखी हुए।

यह ब्रह्मज्ञान अत्यन्त पवित्र है। अज्ञानकी निवृत्तिका और प्राप्ति का कारण है। मुमुक्षु करना चाहिये। इस गुह्यरूपसे कथन किया

समागम हुआ है, इसका नाम पुराकल्प है। हे सौम्यदर्शन! जिस विचारको मनमें रखकर श्वेताश्वतर ऋषि चुप हो गये थे, उस विचारको सुन—

जो पुरुष शम-दमादि साधनोंसे रहित हो, जिसका चित्त विषयासक्त हो, ऐसा पुरुष यदि किसी दयालु ब्रह्मवेत्ता गुरुके सामने ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति की प्रार्थना भी करे, तो भी ब्रह्मवेत्ता गुरुको उस विषयासक्त पुरुषको ब्रह्मविद्याका उपदेश कभी न करना चाहिये। यदि वह पुरुष शमादि साधन-सम्पन्न तथा ब्रह्मविद्याका अधिकारी भी हो परन्तु पुत्र अथवा शिष्यभावसे रहित हो, तो भी उसे ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं करना चाहिये। यदि ब्रह्मवेत्ता गुरु किसी प्रतिज्ञादि निमित्तसे परवश हुआ हो, तो भी उसको गुरुभक्तिसे रहित पुरुषको ब्रह्मविद्याका यथार्थ तात्पर्य कभी न कहना चाहिये। जो पुरुष विवेकादि चारों साधनोंसे युक्त हो, प्रमादसे रहित हो और ब्रह्मवेत्ता गुरुको साक्षात् परमेश्वरके समान देखता हो, ऐसे गुरुभक्त अधिकारी पुरुषको ब्रह्मवेत्ता गुरु ब्रह्मविद्याका उपदेश करे। गुरुभक्त अधिकारी ही ब्रह्मविद्याके मोक्षरूप फलको प्राप्त होता है। गुरुभक्तिसे रहित पुरुष यदि दैवयोगसे ब्रह्मविद्याका अध्ययन भी करता है, तो भी ब्रह्मविद्याके फलको प्राप्त नहीं होता; उसे तो अनर्थकी ही प्राप्ति होती है। यह बात व्यास भगवान् आदिने भी कथन की है—

गुरुं यो मानवैरन्यैः समं पश्यति मोहतः ।

न तस्यास्मिन् भवेल्लोके सुखं नैव परत्र वा ॥

जो पुरुष प्रमादसे ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेवाले गुरुको दूसरे मनुष्योंके समान देखता है, उसको इस लोक या परलोकमें कहीं सुखकी प्राप्ति नहीं होती, किन्तु दुःख ही प्राप्त होता है। और भी कहा है—

कर्मणा मनसा वाचा गुरुं यो नाऽवमन्यते ।
स याति नरकान् घोरान् महारौरवसंज्ञितान् ॥

अर्थ—जो पुरुष शरीर, मन, वाणीसे ब्रह्म-विद्याप्रदाता गुरुकी अवज्ञा करता है, वह महान् घोर रौरव नरकोंको प्राप्त होता है। और भी कहा है—

एकाक्षरप्रदातारं गुरुं यो नैव मन्यते ।
स मूढो नरकं याति यावदाभूतसंख्यम् ॥

अर्थ—ब्रह्मविद्याके एक अक्षरमात्रको उपदेश करनेवाले गुरुको जो पुरुष नहीं मानता, वह मूढ़ जगत्के प्रलयपर्यन्त रौरव नरकमें निवास करता है। और भी कहा है—

कृतघ्नानां हि ये लोका ये लोका ब्रह्मघातिनाम् ।
मृत्वा तानभिसंयाति गुरुद्रोहपरो नरः ॥

अर्थ—कृतघ्न और ब्रह्महत्यारे मरकर जिन नरकादि लोकोंको प्राप्त होते हैं, उन्हीं लोकोंको गुरु-द्रोही प्राप्त होता है। और भी कहा है—

स महापातकी ज्ञेयस्तथोपपातकीयपि ।
गत्वा कल्पसहस्रान्ते विष्ठायां जायते कृमिः ॥

अर्थ—ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेवाले गुरुके साथ जो द्रोह करता है, उसे महापातकी तथा उपपातकी जानना चाहिये; ऐसा गुरुद्रोही रौरवादि नरकोंको प्राप्त होकर वहाँ हजार कल्पतक वास करता है और पश्चात् विष्ठाका कृमि होता है। अथवा सर्वविद्याओंकी प्राप्तिमें गुरु ही कारण है, इसलिये अधिकारियोंको महादेवके समान गुरुका पूजन करना चाहिये, अथवा शिवके पूजनसे भी गुरुका पूजन अधिक करना चाहिये।

शिवे रुष्टे गुरुस्त्वाता गुरौ रुष्टे शिवो न हि ।
शिवादप्यधिकं तस्माद् गुरुं यत्नेन पूजयेत् ॥

अर्थ—शिव भगवान्के क्रुद्ध होनेपर अधिकारीकी गुरु रक्षा कर सकता है, परन्तु गुरुके क्रुद्ध होनेपर

शिव रक्षा नहीं कर सकते; इसलिये शिवसे भी अधिक गुरुका पूजन करना चाहिये।

हे प्रियदर्शन ! जो पुरुष अभिमानसे अपने गुरुकी अवज्ञा करता है, उसके पापकर्मकी निवृत्ति करनेवाला कोई प्रायश्चित्त नहीं है। क्योंकि ब्रह्म-हत्यादि पापोंकी निवृत्ति करनेवाले प्रायश्चित्त धर्मशास्त्रमें देखनेमें आते हैं, परन्तु गुरुद्रोहकी पापकी निवृत्तिका प्रायश्चित्त किसी शास्त्रमें नहीं मिलता। इस लोकमें ब्रह्महत्या सबसे बड़ा पाप है। ब्रह्महत्यारेके किये हुए उपकारका न मानने-वाला कृतघ्न अधिक पापी होता है। कृतघ्नसे भी गुरुद्रोही अति पापी होता है; क्योंकि अधिकारियोंका गुरु ही पिता-माता है, गुरु ही देव है, गुरु ही बन्धु है, गुरु ही मित्र है और गुरु ही सुहृद् है। ऐसे गुरुसे द्रोह करनेवाला कृतघ्नसे भी अधिक पापी है, इसमें संशय नहीं है। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इस श्रुतिमें ब्रह्मवेत्ताको ब्रह्म कहा है; इसलिये अधिकारी आत्मज्ञानसे जिस ब्रह्मको प्राप्त होता है, वह ब्रह्म ब्रह्मवेत्ता गुरुसे अभिन्न है। ब्रह्मवेत्ता गुरुकी अवज्ञासे ब्रह्मकी ही अवज्ञा समझें और 'अयमात्मा ब्रह्म' इस श्रुतिमें आत्मा और ब्रह्म साथ अभेद कहा है, इसलिये ब्रह्मवेत्ता आत्माकी ही अवज्ञा होती है, उनके लिये सर्वे' इत्यादिक श्रुतियोंमें सम्पूर्ण जो भी करें। रूप कहा है, इसलिये आत्मयोगियोंमें भी रहती जगत्की अवज्ञा होती है। अतएव गुरुद्रोह, उसके हननसे भी अत्यन्त दारुण है, इसे हनन किया हुआ क्षणविकल्पाधीन सीमान्तोंको भी कभी-कभी नहीं भी पड़े, परन्तु उनके हनन किया हुआ एक क्षण कलक अवस्थ पड़नेपर भी पाता है, उनकी आवासीय में लग गये उनके रहते करने-की सेवा बड़ा उत्सव-समागत (४) वह जीवें-देर हो

और शिवादि देवताओंके पूजनके समान सावधान होकर गुरुका पूजन करना चाहिये ।

ब्रह्मवेत्ता गुरु शिष्यसे जिस कार्यके करनेको कहे, वही कार्य शिष्यको प्रसन्नमनसे करना चाहिये और अपने शरीरकी रक्षाकी भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये ।

राजा दिलीपकी कथा

राजा दिलीपके बहुत कालतक कोई पुत्र न हुआ। पुत्रकी वाञ्छासे एक बार गुरु वशिष्ठकी आज्ञासे रानीसहित राजा नन्दिनी गौकी सेवा करने लगे। प्रातःकाल ही राजा-रानी दोनों गौकी पुष्प, माला, चन्दनादिसे पूजा करते; पश्चात् राजा गौको वनमें ले जाता, हरी-हरी दूध खोद-खोदकर चराता, ठंडा जल पिलाता; वृक्षकी छायामें जब नन्दिनी बैठ जाती, तो पंखेसे मच्छर, डाँस आदि उड़ाया करता। इस प्रकार दिनभर सेवा करता, सन्ध्याको घरपर लाता, तब राजा-रानी दोनों फिर गौकी पूजा करते और उसे गुरु-आश्रममें पहुँचा देते। ऐसा करते-करते बीस दिन हो गये।

दिन जब राजा गौको वनमें ले गया, तो
व्याघ्र नन्दिनीको भक्षण करने दौड़ा।

कर सहम गयी और राजाकी ओर
 खोंसे देखने लगी, मानो व्याघ्रसे
 होती है। राजाने नुरंत ही धनुषपर
 पर चलाया; परन्तु बाण धनुषमें
 धनुषसे निकला नहीं ! राजा
 करने लगा, तब व्याघ्र गर्जना

...णीमें इस प्रकार बोला—

रुद्रका गण हूँ, रुद्र

...बिबीने रहता हूँ, और

के नीचे आ

सिद्धि

100

करके मैं अपनी श्रुधाकी तृप्ति करूँगा ! तेरा वाण रुद्रकी रूपासे मुझपर चल नहीं सकता, इसलिये तेरा प्रयत्न करना व्यर्थ है ! मुझे अपना पेट भरने दे, तू गौको छोड़कर चला जा ! जब तू इसकी रक्षा कर ही नहीं सकता तो तू गुरुका अपराधी भी नहीं हो सकता । क्योंकि जब तेरा वश ही नहीं चलता, तो तू निर्दोष है ! इसके सिवा तू राजा है, समर्थ है, एक गौके बदले हजारों गौएँ देकर गुरुको प्रसन्न कर सकता है; फिर एक गौके लिये तुझे सोच करना उचित नहीं है ! भूखेको भोजन न देना अथवा उसका भोजन छीन लेना, यह भी तो पाप है; भूखेको भोजन कराना पुण्य है । मेरे भोजन करनेसे तुझे पुण्य ही होगा, पाप नहीं लगेगा; इसलिये जा और गुरुको बहुत-सी गौएँ देकर और अपनी परवशता बताकर प्रसन्न कर ले, अधिक सोच-विचार मत कर ! रुद्र भगवान्‌के भेजे हुए भोजनका मुझे भोग लगाने दे !

व्याघ्रकी युक्तियुक्त बातें सुनकर और रुद्र भगवान्की शक्तिसे अपना सामर्थ्य रूका हुआ देखकर राजा दिलीप इस प्रकार कहने लगा—

राजा—हे रुद्रगण ! तेरा कथन ठीक है; परन्तु गुरुकी वस्तुकी जो पुरुष अपने प्राण देकर भी रक्षा नहीं करता, वह पातकी होता है ! तू भी तो तन-मनसे इसकी रक्षा करता है। यह गौ गुरुको बहुत प्यारी है, हजार गौ देनेसे भी गुरु प्रसन्न नहीं हो सकते ! यदि तू भूखा है तो मुझे खा ले और इसके बदले गुरुकी इस गौको छोड़ दे। वछड़ा दूध पीनेके लिये अपनी माताके आनेकी वाट देख रहा होगा और माता भी सन्ध्या होनेपर अपने वछड़ेको दूध पिलानेके लिये उत्सुक हो रही होगी। गुरुजी भी मेरी वाट देख रहे होंगे कि सन्ध्या होनेवाली है, हमारा शिष्य गौको चराकर ला रहा होगा। इन तीनोंकी आशापर फाँस मत मार और तू मुझे भक्षण करके अपनी श्रुचाकी निवृत्ति कर ले !

व्याघ्र—(हँसकर) खरे राजन् ! तू मूढ़ क्यों हुआ है ? नयी उमर है, सुन्दर शरीर है, दृष्ट-पुष्ट अवयव हैं, एक गौके लिये अपने प्राण क्यों देता है ? राजाको प्रजाका पालन करनेसे महान् पुण्य होता है। जिस राजाकी प्रजा दुखी होती है वह राजा अवश्य नरकगामी होता है, तेरे मरनेसे तेरी प्रजा बिना राजाकी होकर महादुःखी होगी ! जीता रहा तो प्रजाका पालन करके पुण्यकी कमाई करेगा और गुरुको भी धन-धाम, ग्राम-जागीर देकर प्रसन्न कर लेगा; फिर व्यर्थ ही अपनी जान क्या खोता है ?

राजा—हे खट्वा-नय ! यह तेरा कथन ठीक नहीं है; गुरुकी सेवा ही परमसेवा है, गुरुसेवासे ही सब कुछ मिलता है ! प्रजाका पालन राजाका धर्म अवश्य है, परन्तु गुरुसेवा परम धर्म है ! गुरुको वस्तु मुझे प्राणसे भी प्यारी है, प्राण देकर भी मैं गौकी रक्षा करूँगा।

इतना कहकर राजाने अनुष-चाण हाथसे रख दिया। आज मेरा नश्वर शरीर ! के काम आवेगा और गुरुकी गौके प्राण बच जायँगे, इस उमंगसे राजा पृथिवीपर गिर पड़ा और आँखें बंद करके और आशा एवं प्रतीक्षा करने लगा कि कब व्याघ्र आकर मुझे खावे और मेरी गुरुसेवा पूरी हो ! इतनेहीमें ये प्यारे मधुर शब्द उसके कानमें आये—हे वत्स ! तेरा कल्याण हो ! खड़ा हो जा, तेरा मनोरथ पूर्ण होगा; तू मेरा और गुरुका सच्चा भक्त है। वशिष्ठजीकी कृपासे मेरा मारनेवाला कोई नहीं है, तेरी परीक्षा लेनेके लिये मैंने ही व्याघ्रका दूसरा रूप धारण किया था ! राजा दिलीपने नेत्र खोलकर देखा तो व्याघ्र वहाँ नहीं था, नन्दिनीने ही उपर्युक्त वचन कहे थे। राजा उठ खड़ा हुआ और गौको लेकर गुरु-आश्रममें पहुँचा। पीछे नन्दिनी और गुरुकी कृपासे रानीने गर्भ धारण किया और नौ मास पीछे रघुका जन्म हुआ, जिसकी कीर्ति विश्वमें विख्यात है।

हे प्रियदर्शन ! राजा दिलीपने तो लौकिक पुत्रकी कामनासे गुरुकी ऐसी भक्ति की कि गुरुकी गौकी रक्षाके लिये अपने प्राण न्योछावर कर दिये, तो अखण्ड सुखरूप ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये शिष्य गुरुकी जितनी सेवा करे उतनी ही थोड़ी है। हे वत्स ! शिष्यको अपने कानोंसे सर्वदा गुरुकी कीर्ति सुननी चाहिये, मुखसे गुरुकी स्तुति करनी चाहिये ! यदि शिष्यके सामने कोई दुष्ट पुरुष गुरुके दूषण कथन करे, तो शिष्यको यथाशक्ति उसका अपमान ही करना चाहिये; यदि अपमान करनेमें समर्थ न हो, तो वहाँसे दूर चला जाना चाहिये। यदि दूर जानेमें भी असमर्थ हो, तो अपने कान बंद कर लेने चाहिये। सारांश यह है कि कल्याणकामीको शिवादि देवताओंके समान रात-दिन सावधान होकर गुरुभक्ति करनी चाहिये, गुरुभक्तिसे अधिकारीको मोक्षरूप पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है। श्रुति भगवती कहती है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

अर्थ—जिस पुरुषकी परमात्मदेवमें परम भक्ति है, और जैसी परमात्मदेवमें भक्ति है, वैसी भक्ति ही, उस गुरुभक्तकी बुद्धिमें ही ये वेद-वैदिक, श्रुति-पदार्थ प्रकाश करते हैं। गुरुभक्त उनके लिये अर्थ, काम, मोक्ष—चारों प्रकार के फल भी करें। होता है। अथवा जैसे ब्रह्मचर्यतुष्योंमें भी रहती ईश्वराराधन तथा वेदाध्ययन के फल हैं, उसके होकर वर्तता है, उसी प्रकार शिष्यको भी भक्तिमें सावधान रहना चाहिये। शिष्यको भी दैवयोगसे अधिकारी बनना पड़े, परन्तु उनके भी हो जाय, तो एक कलक अवश्य पड़नेपर भी उनकी आकांक्षीतामें लग गये उनके रहते, भक्तिकी सेवा बड़ा उत्सव-संस्कारगत (४) वह जीवने देर हो

गुरौ विमुखतां याते विमुखाः सर्वदेवताः ।

भवन्ति क्रियमाणं च पुण्यं पापं हि जायते ॥

अर्थात्—ब्रह्मविद्याके उपदेष्टा गुरुसे जो पुरुष विमुख होता है, उससे सब देवता विमुख हो जाते हैं और गुरुसे विमुख हुआ पुरुष यदि पुण्य भी करता है, तो पुण्य भी पापरूप हो जाता है। इसलिये कल्याणाकांक्षीको सब प्रकारसे देवताके समान गुरुका पूजन करना चाहिये । और शम-दमादि गुणोंसे तथा आत्मसाक्षात्कारसे युक्त जीवन्मुक्त संन्यासियोंको भी सब प्रकारसे अपने गुरुका पूजन करना चाहिये । स्मृतिका वचन है—

यावदायुस्त्रयो वन्धा वेदान्तो गुरुरीश्वरः ।

अर्थ—जबतक विद्वान्की आयु है तबतक उसको वेदान्तशास्त्र, वेदान्तके उपदेशक गुरु और ईश्वर, इन तीनोंका पूजन करना चाहिये। भाव यह है कि जब विधि-निषेधसे रहित जीवन्मुक्त संन्यासियोंको भी गुरुका पूजन अवश्य करना चाहिये, तो दूसरोंका तो कहना ही क्या है ? इसलिये इन संन्यासियोंको यद्यपि मेरे उपदेशसे आत्मसाक्षात्कार प्राप्त है, तो भी इनको अपने-अपने गुरुका पूजन करनेके गुरुओंके पास अवश्य जाना चाहिये।

नीन ! इस अभिप्रायको मनमें रखकर
नि चुप हो गये और उनके अभिप्राय-
वान् संन्यासी श्वेताश्वतर मुनिकी
करके अपने-अपने गुरुओंके
ने डोरुशंकर ! पूर्व ब्राह्मणोंने
करके तथा मायाशक्ति-
पविद्या कथन की थी,
के ने अनियोंको उपदेश
के नान्न !

कहीं भी दिखायी नहीं देती, केवल आनन्दस्वरूप चैतन्यघन ब्रह्म ही भासता है। चिन्मात्र ब्रह्म ही सत्य है, जड़ता कहीं भी नहीं है—यही बात नीचेके छन्दमें दिखलायी गयी है—

जड़ता कहीं भी नहीं है

(१)

परमाणु नहीं, नहीं काल ही, न स्वभाव कारण विश्वका ।
 नहीं नियति, यदृच्छा नहीं, न अभाव कारण विश्वका ॥
 नहीं प्रकृति, नहीं ब्रह्म ही, मायेश कर्ता विश्वका ।
 मायेशकी जो ले शरण, सो भेद पाता विश्वका ॥

(२)

सञ्चित तथा आनन्दघन, यह ब्रह्माका स्वस्वरूप है ।
मिथ्यापना जडरूपता, अरु दुःख मायारूप है ॥
मायेश माया-शक्तिसे उत्पन्न करता विश्व है ।
संसारभरको मोहती, माया स्वयं निस्तस्व है ॥

(३)

माया-पिशाचीवश हुआ नर विश्व जड बतलाय है ।
 ज्ञानी अमानीको कहीं जडता नजर नहीं आय है ॥
 जडता कहीं भी है नहीं, चैतन्य सारा विश्व है ।
 परिपूर्ण सबमें एकरस, चिन्मात्र केवल तत्त्व है ॥

(8)

एकप्राय कीजि चित्तको, निर्मल बना मन लीजिये ।
अति सूक्ष्म करके बुद्धि, अपनी दृष्टि अणुपर दीजिये ॥
जडता नहीं अणु माहिं किंचित् जडपना भ्रममात्र है ।
अणु है नहीं, चैतन्य है, अणु-अणु बसा चिन्मात्र है ॥

(3)

योगी समाहितचित्त जिस-जिस द्रव्यको हैं देखते ।
 नहीं देखते हैं द्रव्य, केवल ब्रह्मको हैं देखते ॥
 है ब्रह्म ही निश्चय सभी, जडका न किंचित् लेश है ।
 अक्षय निरामय तत्त्व ही चिन्मात्र चिन्म अवशिष्ट है ॥

(३)

सम्यक् न जिनकी दृष्टि है, जड़वत् उन्हें जग भासता ।
 है ब्रह्म ही चिद्रूप सो, जड़का नहीं कुछ वासता ॥
 अक्षर अलण्डित एक दिव्य, ध्रुव शान्त शाश्वत नित्य है ।
 नाना यहाँ कुछ है नहीं, चिन्मात्र केवल सत्य है ॥

(७)

अंधा पुरुष ज्यों विश्वभरमें है अंधेरा मानता ।
विक्षिप्त मन नर मूढ़ त्यों ही विश्वको जड़ जानता ॥
तत्त्वज्ञ सम्यग्दर्शि सबमें देखता है आत्म ही ।
जग आत्ममय है देखता, सर्वत्र देखे ब्रह्म ही ॥

(८)

जो सत्य द्रष्टा होय है, सब विश्व शिवमय देखता ।
भीतर तथा बाहर दसों दिश एक सुखमय देखता ॥
नाना नहीं है लेश, केवल ब्रह्म ही सर्वत्र है ।
सम, निरव्य, अद्वय, एक, अव्यय तत्त्व अज, चिन्मात्र है ॥

(९)

जडरूपसे जो भासता, निश्चय सभी सो भ्रांति है ।
है रोग जिसको भ्रांतिका, पाता कभी नहीं शांति है ॥

जब ज्ञान सम्यक् होय है, भ्रम-भेद सब मिट जाय है ।
अक्षर अकिंचन शुद्ध संविद् देखनेमें आय है ॥

(१०)

कर वृत्तियोंमें ब्रह्मका पहिले निरन्तर ध्यान रे ।
फिर वृत्तियोंसे रहित कर तू ब्रह्म-अनुसंधान रे ॥
एकाग्र मन हो ध्यान-से, तब ज्ञान सम्यक् पायगा ।
उड़ जायगा सब विश्व, भोला ! ब्रह्म ही रह जायगा ॥

कुं०-ज्ञानी मुनि श्वेताश्रतर, यतिजन शुचि संवाद ।
पढ़ें सुनैं जे धीर नर, चढ़ें मुक्ति प्रासाद ॥
चढ़ें मुक्ति प्रासाद, गर्भमें लौट न आवैं ।
बनैं भूषके भूप, राज्य निष्कंटक पावैं ॥
भोला ! तज भ्रम-भेद, नरककी यही निसानी ।
जो तज देता भेद, वही है योगी ज्ञानी ॥

इति एकादशमणि ।

पूज्यपाद स्वामीजी श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश

(प्रेषक—भक्त रामशरणदासजी)

(१) जो भजन करते हुए यह चाहे कि मुझे ज्वर न हो, तकलीफ न हो, उसे भगवान् चौदह जन्ममें भी नहीं मिलेंगे । दुःखोंको सहन करते हुए और भगवान्का स्मरण करते हुए चलते चलो, यही मुक्ति है । भगवन्निन्तनमें जो आनन्द है, वह आनन्द समाधिमें भी नहीं है । एक दिन श्रीजी भगवान्को पंखा झल रही थी कि उन्हें सहसा समाधि लग गयी और हाथसे पंखा गिर गया । चेत होनेपर श्रीजीने कहा कि हमें ऐसी समाधि भी नहीं चाहिये जो हमें सेवासे बञ्चित रखे । समाधि सेवाके आगे क्या चीज है ?

(२) प्रश्न—महाराजजी निन्दा कैसे छूटे ?

उत्तर—कोशिश करो । खुर्जिमें एक भक्त केदारनाथ-जी थे, वे कभी क्रोध नहीं करते थे । एक दिन उन्हें अपने एक नौकरपर किसी कारणवश क्रो-

आ गया, किन्तु पीछे वे बहुत पछताये और रातको ही जाकर उन्होंने उससे माफी माँगी । एक दिन एक साधु उनके यहाँ आये और भिक्षाको कहा । भक्तजीने आसन बिछाकर उन्हें बड़े ~~से~~ ^{पिशा} ^{त्रि, श्रुत} कराने बैठाया । साधु जब भिक्षा उनके लिये भक्तजीने उन्हें एक चमचा खीर ^{और} ^{जो भी करें} । साधुने मना किया, भक्तजीने ^{नुष्योंमें भी रहती} और परोस दी । इसपर साधुने तमाचा जड़ दिया । भक्तजी ^{चटोई, उसके} अगले दिन फिर आप ^{उने} ^{विष} ^{धारे} ^{सोमन्तोको} ^{मा} महाराज, आज भी मेरे ^{पु} ^{है} ^{थे}, परन्तु उनके

(३)

एक ^{कलक अवस्थ} पड़नेपर भी ^{की आवासी} ^{तेमें लग गये} ^{नकें रहते} ^{करने} ^{वैतकी सेवामें} ^{बड़ा उत्सव-रणागत} (४) वह जीवें ^{देर हो}

होता । इसलिये यदि कोई हमारा अपमान करता है तो उसे भी अन्तर्यामीकी प्रेरणा ही समझनी चाहिये और उस समय भगवन्नाम-कीर्तन करना चाहिये । चुप हो जाना ही सहनशक्ति नहीं है, बल्कि हृदयमें भी प्रसन्नता होनी चाहिये ।

(५) जो घोर सहनशक्तिवाला है, वही तत्त्व-ज्ञानी है । सबकी गाली तथा निन्दा सहन करे और ऐसा समझे कि फूल बरस रहे हैं । दो महात्मा थे, वे कहीं जा रहे थे । किसी बागमें किसीने आम तोड़ लिये थे । मालीने जब इन्हें बागके सामने जाते देखा तो इन्हींको चोर समझा । दोनोंको उसने खूब मारा । महात्मा शान्त रहे और सब सहते रहे । इसपर सहसा देवता आकाशसे उतर आये । पीछेसे उनका चेला आ रहा था । जब मालीने उसे मारा तो वह चेला मालीसे लड़ने-झगड़ने लगा । झटसे देवता ऊपर आकाशमें चले गये । साधुओंने पूछा कि आप लोगोंने ऐसा क्यों किया ? क्यों तो आप उतरकर आये और क्यों तुरंत ही ऊपर चले गये ? देवताओंने कहा कि गुरु ऐसे न सही, परन्तु तुमने चेला तो ऐसा कर ही रक्खा है । इसीसे हम चले गये । तुम्हारी सहनशक्ति देखकर आये थे ।

मार्ग श्रुतिसे भी परे है । श्रुतिमें प्रतिपादन किया गया है कि कुछ

भक्ति सुतंत्र सकल गुण खानी ।
बिनु सतसंग न पावहिं प्राणी ॥

(८) दो ही मार्ग प्रधान हैं—एक भक्तिमार्ग, दूसरा ज्ञानमार्ग । ज्ञानमार्गी तैरकर जाता है । भक्तिमार्ग-वाला इस प्रकार जाता जिस प्रकार कोई लड़का अपने पिताकी गोदमें बैठा हो और पिता नौकामें बैठा हो तथा मल्लाह उसे पार कर दे । उस लड़केको पता ही नहीं चलता कि कहाँ नाव है और कौन उसे चलाता है । वह तो निश्चिन्त हो पिताकी गोदमें बैठा रहता है । यह भक्तिमार्ग है ।

(९) मृत्युसे डरना केवल मूर्खोंका काम है । क्योंकि अगर किसीका पुराना कपड़ा छीनकर उसे नया कपड़ा पहननेको दिया जाय तो वह कितना खुश होगा । इसी प्रकार इस पुराने शरीरको छुड़ाकर हमें नया शरीर दिया जा रहा है, यह देखकर खुशी मनानी चाहिये । श्रीभगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें भी अपने श्रीमुखसे कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

(१०) प्र०—महाराजजी, कोई स्त्री-शिक्षाकी बात कहिये ।

उ०— स्त्रियाँ बक-बक करना बंद कर दें, यही उनके लिये सबसे बड़ी शिक्षा है । लड़ें-भिड़ें नहीं, और ज्यादा पढ़ें-लिखें नहीं; प्राचीन आचार-विचारसे रहें, खिलाने-पिलानेमें किसीको कमी-बेशी न करें; सबको एक-सा भोजन दें, किसीको मोटी रोटी, किसीको पतली रोटी—ऐसा न करें । तभी घरमें प्रेम रहेगा । सबसे प्रेम करें और पतिके अतिरिक्त किसी दूसरेको खममें भी न देखें ।

गृहस्थमें परमार्थ-साधन

(कुछ वर्ष पूर्व पटनेमें दिया हुआ ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराजका लिखित भाषण)

सुखं शयाना नित्ये निजेऽपि

नामानि विष्णोः प्रवदन्ति मर्त्याः ।

ते निश्चितं तन्मयतां व्रजन्ति

गोविन्द दामोदर साधवेति ॥

मेरे एक श्रद्धारूपद मित्रने आज यह आदेश दिया कि कुछ गृहस्थ-धर्मके सम्बन्धमें लिखो । यद्यपि मैं आपके ही घरोंमें पैदा हुआ, पल-पोषा और पढ़ा; किन्तु घर छोड़े मुझे एक युगसे भी बहुत अधिक समय हो गया । मुझे गृहस्थ-धर्मका कुछ भी अनुभव नहीं और न इतनी योग्यता ही मैं अपनेमें समझता हूँ कि आप सब महानुभावोंके समक्षमें इतनी बड़ी जिम्मेवारीके विषयमें कुछ कह सकूँ । किन्तु मैंने जो भी कुछ थोड़ा-बहुत पढ़ा है, साधु-महात्माओंसे सुना है और जो कुछ जानकारी प्राप्त की है, उसके अनुसार कुछ न कहूँ—यह भी ठीक नहीं; अतः इस विषयमें मेरे जो भी कुछ विचार हैं, उन्हें आपके सामने उपस्थित करता हूँ ।

मेरे मित्रका मतलब, जहाँतक मैं समझ सका हूँ, यही है कि गृहस्थीमें रहते हुए—गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए हम अपनी पारमार्थिक उन्नति कैसे कर सकते हैं ? इस प्रश्नमें यह तो निश्चय ही है कि पारमार्थिक उन्नति करना मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है । अब बहुत-से लोग यह कहते हैं कि बिना घर-द्वार छोड़े परमार्थ-पथकी ओर हम बढ़ ही नहीं सकते, इसके लिये हमें घर-द्वार, स्त्री-परिवार सबसे सम्बन्ध तोड़ना ही होगा । बहुत-से कहते हैं—नहीं, इसके लिये यह आवश्यक नहीं कि घर-बार छोड़ा ही जाय; घर-बारमें रहते हुए भी पारमार्थिक उन्नति या प्रभु-प्राप्ति हो सकती है । दोनों बातोंमें कोई भी ठीक हो, दोनों दशाओंमें प्रभुप्राप्ति

ही मुख्य कर्तव्य रहा । अब एक तीसरी श्रेणी ऐसे लोगोंकी भी है, जो परमार्थको मानते ही नहीं ।

कैसा ईश्वर, कहाँकी आध्यात्मिकता ? जैसे बने तैसे शरीरको सुखी रखो, इन्द्रियोंके भोगोंको जुटाओ, उन्हींमें आनन्द उड़ाओ । धर्म-कर्म, परमार्थ-परमात्मा व्यर्थकी चीजें हैं । ऐसे लोगोंके लिये अपना मन ही ईश्वर है, सांसारिक विषय ही उनके लिये धर्म हैं । उनके लिये यह प्रश्न नहीं है । यहाँ तर्कद्वारा यह सिद्ध नहीं करना है कि परमात्मा अमुक वस्तु है, परमार्थ यह है । यहाँ तो केवल यही विचार करना है कि गृहस्थमें रहकर भी पारमार्थिक उन्नति हो सकती है क्या ?

पहले आप धर्मको समझें—धर्म क्या वस्तु है ? प्राणिमात्रकी स्वाभाविक प्रवृत्ति इन्द्रिय-भोगोंकी ओर है, उस वृत्तिको एक मर्यादाके भीतर कर देनेका ही नाम धर्म है । जैसे प्राणिमात्रकी इच्छा विषय-भोगकी रहती है । कीट-पतंग, पशु-पक्षी, सभी विषय-भोग करते हैं; उनके यहाँ माता-बहिन, दिन-रात्रि, ऋतु-कालका कोई विशेष विचार नहीं । अतः उनके लिये धर्म भी नहीं, वे स्वभावके बश होकर जो भी करें । पशुओंकी ही भाँति विषय-वासना मनुष्योंमें भी रहती है । भूख जिस प्रकार पशुओंको लपेटाई, उसके प्रकार मनुष्योंको भी सताती है; उनसे भूख लगे लगे लेंते हैं, मनुष्य भी । अपने विषय-वासनाओंको भी भयभीत होते हैं, परन्तु उनके लिये एक कालक अवश्य पड़नेपर भी अन्त की आवश्यकता लगे लगे रहते हैं, करने-करनेकी सेवामें लगे लगे रहते हैं । बड़ा उत्सव-समागति (४) वह जीव

जमी घास-दाना डाल दो तभी वे उसे खाने लगेंगे । किन्तु मनुष्य, यदि वह धार्मिक जीवन बिताना चाहता है, यह देखेगा कि खानेकी वस्तु कौन लाया है, इस समय उसे खाना चाहिये या नहीं और पहले उसे भगवान्‌के अर्पित कर, तुलसीपत्र डालकर, तब स्वयं ग्रहण करेगा । पशुओंमें यह विवेक नहीं है कि अमुक मेरी माता है या बहिन, उनके लिये सब समान हैं; मनुष्य इन सब बातोंमें संयम कर सकता है । उसकी बुद्धिमें यह विवेक जाग्रत् रहता है कि यह मेरी माता है, यह बहिन है, यह परस्त्री है, इत्यादि । सारांश यह है कि विषयोन्मुख प्रवृत्तिको एक मर्यादामें लाकर विषयोंमें बर्तना, यही धर्म है ।

हम स्वभावतः इन्द्रियोंके अधीन हैं, हमारी इन्द्रियाँ सदा विषयोंको चाहती हैं । जब हमारा मन काम-वासनासे युक्त होता है, तो उसे कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान नहीं रहता । उस समय हमारी रक्षा धर्म ही करता है । अरे, यह हम क्या कर रहे हैं ? यह तो अधर्म है, पाप है; इसे करनेसे हम नीचे गिर जायँगे—परमार्थ-पथसे च्युत हो जायँगे, प्रकाशसे हटकर अन्धकारकी ओर चले जायँगे । हमें विषयोंसे हटाकर जो प्रकाशकी ओर ले जाता है, वही धर्म है । 'धर्म' शब्द बड़ा व्यापक है, इसके अनेकों भेद हैं, यह अनेकों अर्थोंमें प्रयुक्त होता है ।

हमारा मन विषयोंकी ओर जाय ही नहीं, यह धर्म की बात है । हमारे मनमें घर-गृहस्थीकी भावना है । इससे बढ़कर और क्या बात होगी ।

हमारे मनमें धर्म-गृहस्थीकी भावना है । इससे बढ़कर और क्या बात होगी । हमारे मनमें धर्म-गृहस्थीकी भावना है । इससे बढ़कर और क्या बात होगी ।

हमारे मनमें धर्म-गृहस्थीकी भावना है । इससे बढ़कर और क्या बात होगी । हमारे मनमें धर्म-गृहस्थीकी भावना है । इससे बढ़कर और क्या बात होगी ।

सकता ? उनके लिये भी कोई उपाय है ? शास्त्रोंका सिद्धान्त है—हाँ, उनके लिये भी उपाय है; विविध गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए वे परमार्थ-पथकी ओर अप्रसर हो सकते हैं । सच्ची बात तो यह है कि गृहस्थ-धर्म ही एक ऐसा धर्म है, यही आश्रम एक ऐसा आश्रम है, जिसका विविध पालन किया जाय तो यह अन्य तीनों आश्रमोंका आश्रयदाता बन जाता है ।

युगोंके अनुसार कर्तव्योंमें भी गौणता और मुख्यता हो जाती है । सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—ये चार युग माने गये हैं । ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण हैं । पहले यह परिपाटी थी कि ब्राह्मण चारों आश्रमोंका अधिकारी होता था; ब्राह्मणका बालक पहले ब्रह्मचारी होता था, फिर पाणिग्रहण करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करता था, थोड़े दिन गृहस्थमें रहकर फिर उसे भी छोड़कर वानप्रस्थ-आश्रमको स्वीकार करता था और अन्तमें इहलौकिक एवं पारलौकिक, सभी सुखोंको छोड़कर संन्यासी हो जाता था । क्षत्रिय ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थ-आश्रममें रहकर तब वानप्रस्थी बनकर तपस्या करने वनमें चले जाते थे और वानप्रस्थ-धर्मका ही अन्ततक पालन करते थे । वैश्य ब्रह्मचर्य और गृहस्थ, दो धर्मोंका पालन करते थे और शूद्र केवल गृहस्थी रहकर ही चारों वर्णोंकी सेवाके कार्यमें रत रहते थे । सत्ययुगमें लोगोंकी वृत्ति स्वभावतः त्यागकी ओर रहती थी, उन्हें त्याग-धर्म सिखाना नहीं पड़ता था । प्रकृति तो सदासे ही अधोगामिनी होती है; ज्यों-ज्यों समय बीतता गया लोगोंका त्यागमय जीवन भोगमय जीवनके रूपमें परिणत होता गया, त्रेताके लोग त्याग-धर्मकी अपेक्षा स्वभावतः प्रवृत्ति-धर्ममें रुचि रखने लगे । द्वापरमें तो यहाँतक हुआ कि भोगोंके लिये मार-काट, युद्ध, छल-कपट सब होने लगा । फिर कलियुगका तो पूछना ही

क्या । इसमें तो धर्मके तीन पैर कट गये । अनेक प्रकारके अधर्म फैल गये । वर्णाश्रम-धर्म छिन्न-भिन्न हो गया, वर्णोंमें संकरता आ गयी, आश्रम तो प्रायः लुप्त-से ही हो गये । धर्मकी प्रवृत्ति लोगोंके मनसे उठ गयी । लोग विषय-परायण, लम्पट और कामी बन गये । ऐसे युगमें भी हम परमार्थ-साधन कर सकते हैं क्या ? यदि कर सकते हैं तो कैसे कर सकते हैं ? यही विचारणीय विषय है ।

इस युगमें जो एकान्तमें रहकर योग-साधन कर सकते हैं वे करें, वे हमारे लिये परम पूज्य हैं । जन-सम्पर्कसे दूर रहकर, घोर अरण्यमें एकाकी, निःस्पृह और शान्त बनकर, जो सत्-असत्का विवेक करते हुए ब्रह्म-चिन्तन कर सकते हैं, वे बन्दीय हैं, प्रातःस्मरणीय हैं; किन्तु इसे सर्वसाधारण लोग नहीं कर सकते । सर्वप्रथम तो हमारे ऊपर शासन करनेवाले ही विदेशी और विधर्मी हैं, वर्णधर्म इतना सङ्कुचित और छिन्न-भिन्न हो गया है कि स्मृतियोंमें जिन वर्णोंके जो धर्म बताये गये हैं उनका विधिवत् पालन करनेवाले शायद सौमें एक भी न मिलें । आश्रमोंका तो एक प्रकारसे लोप ही हो गया है । मनुस्मृति तथा दूसरी स्मृतियोंमें जिस प्रकारके ब्रह्मचारियोंका वर्णन है, वैसे ब्रह्मचारी आज देखनेमें नहीं आते । आयुके आठवें, दसवें या बारहवें वर्षमें घर छोड़कर गुरुके घर रहना; प्रतिदिन भिक्षा माँगकर गुरुको अर्पण करके प्रसाद पाना; रोज अग्निमें आहुति देना; मेखला, दण्ड, मृगचर्म, कमण्डलु धारण करना; गुरुसेवामें रत रहना; गर्मी-सर्दीको सहन करना; विधिवत् वेदोंका अध्ययन करना—इस प्रकारका आचरण करनेवाला एक भी विद्यार्थी देखनेमें नहीं आता । गुरुकुल ही नहीं रहे तो वैसे ब्रह्मचारी कहाँसे हों । आज जो गुरुकुलके नामसे संस्थाएँ खुली हैं वे तो अंगरेजी कालेज-स्कूलोंकी तरह ही हैं । उनमें और प्राचीन गुरुकुलोंमें तो इतना अन्तर है जितना अन्धकार

और प्रकाशमें होता है । प्राचीन कालमें गृहस्थका मुख्य धर्म होता था अग्निकी रक्षा करना । गृहस्थीके अग्निहोत्रकी अग्नि न बुझने पावे, इसी लिये पत्नीकी आवश्यकता होती थी और इसीलिये गृहस्थ-धर्म कठोर माना जाता था । मरते समय सभी गृहस्थ उसी अग्निसे जलाये जाते थे । पाण्डवोंने अपनी यज्ञीय अग्निको अखण्ड बनाये रखनेके लिये कितने प्रयत्न किये थे । गृहस्थका मुख्य धर्म अग्निरक्षा, अग्निपूजा, अग्निहोत्र ही था । आज कितने गृहस्थियोंके घरमें अग्निहोत्र होता है, कितने घरोंमें अखण्ड अग्नि रहती है ?

वानप्रस्थ आश्रमके बड़े कठिन नियम बताये गये हैं । वानप्रस्थीको केवल अपनी अग्निहोत्रकी अग्निकी रक्षाके लिये ही कुटी या पहाड़की गुफाका आश्रय लेना चाहिये; वह गर्मीमें पश्चाग्नि तपे, जाड़ोंमें कण्ठतक जलमें डूबकर तप करे । वर्षामें विना छायाके स्थानमें रहे । जोते हुए खेतका धान्य न खाये, इत्यादि । संन्यासियोंके लिये तो और भी कठिन नियम बताये गये हैं । वे एक जगह नहीं रह सकते, भिक्षा माँगकर ही जीवन बिता सकते हैं, व्याख्यान नहीं दे सकते, इत्यादि बहुत-सी बातें हैं ।

इन शास्त्रीय नियमोंका यदि कोई विधिवत् पालन कर सकते हों तो बहुत ही उत्तम बात है, वे पुरुष धन्य हैं; किन्तु समय ऐसा आ गया है कि इन नियमोंका पालन कठिन हो गया है । आज शुद्ध पदार्थ नहीं मिलते । गौका ही चूँचड़ाई, उसके लिये भी प्राप्य नहीं है । एकान्तमें स्थान नहीं मिलता । जंगलों में भी शीमन्तोंकी नाप ली गयी है । जंगल में भी शीमन्तोंकी नाप ली गयी है । परन्तु उनके हैं । वहाँ एक कलक अवश्य पड़नेपर भी काँकी आँखोंमें लग गये हैं । उनकी सेवा करने-बड़ा उत्सव-मरणागत (४) वह जीवें

जबर्दस्ती वहाँसे निकाल देगी, उसे खुद पहाड़के नीचे कर आवेगी। गंगोत्रीसे १८ मील ऊपर गौमुखके पास जहाँ श्रीगंगाजीका असली उद्गम है, जहाँ सब लोग नहीं जा सकते, सदा बर्फ रहती है, वहाँ मैं गया था; वहाँ भी आप कुटी नहीं बना सकते, रह नहीं सकते। यदि रहना हो तो टेहरी सरकारसे आज्ञा लेनी होगी। जंगली फल-मूलोंकी बात तो अब सचमुच एक कहानी ही रह गयी है। हम आज अनुमान भी नहीं कर सकते कि लाखों ऋषि-मुनि केवल जंगली फल-मूलोंसे ही कैसे निर्वाह करते रहे होंगे। मैं इस तलाशमें बहुत घूमा कि कहीं ऐसा जंगल मिले जहाँ खाने भरको कैसा भी फल मिल जाय तो मैं वहीं रहने लगूँ, किन्तु कई जगह घूमनेपर और लोगोंसे पूछनेपर भी ऐसी कोई जगह नहीं मिली जहाँ ऐसे फल-मूल मिल सकें। सारांश यह कि एकान्तमें रहनेके लिये जगहका मिलना भी कठिन हो गया है।

अब तो सच पूछिये तो जो भी कुछ साधन बन सकता है, घरहीमें रहकर बन सकता है। ईमानदारीके साथ जीवन बिताया जाय तो इससे बढ़कर इस युगमें दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। हम घरकी झंझटोंसे क्यों ऊब जाते हैं? इसलिये कि हम अपनेको कर्ता मानते हैं; यह हमारी सबसे बड़ी भूल है। सबसे पहले तो गृहस्थीको यह

समझना है कि जो भी कुछ करते हैं प्रभु ही उनके यन्त्र हैं; वे जैसा कराते हैं, हम और वे अच्छा ही कराते हैं।

हम अपने लिये अभ्यास

करके

विश्वेका

थे, उन सबको छोड़कर वे चले गये, यह तो हम रोज ही देखते हैं। फिर भी हम समझते नहीं। एक किस्सा है कि एक सेठजी नौकासे गंगा पार जा रहे थे। सेठजीने मल्लाहसे पूछा—‘तुम्हारे भाई हैं? उसने कहा—‘बड़ा भाई था, वह मर गया।’ सेठजीने पूछा—‘कैसे मरा?’ मल्लाहने कहा—‘गंगाजीमें डूब गया।’ सेठजी—‘तुम्हारा पिता कैसे मरा?’ मल्लाहने कहा—‘वह भी गंगाजीमें डूबकर मरा।’ फिर पूछा—‘बाबा कैसे मरा?’ उसने कहा—‘वे भी गंगाजीमें डूबकर मरे।’

तब सेठजीने झुँझलाकर कहा—‘तुम ऐसे बाहियात कामको छोड़ क्यों नहीं देते?’ मल्लाह चुप हो गया।

थोड़ी देर बाद उसने पूछा—‘सेठजी, आपके पिताजी कैसे मरे?’ सेठजीने कहा—‘घरमें।’ मल्लाहने पूछा—‘और बाबा कहाँ मरे?’ सेठजीने कहा, ‘घरमें।’ तब मल्लाहने गम्भीरतासे कहा—‘सेठजी, जिस घरमें इतने लोग मर गये, उस घरको आप छोड़ क्यों नहीं देते?’

तब सेठजीने कहा—‘भैया, घर छोड़ दें तो रहें कहाँ? कहीं भी तो रहना ही है।’ शत मल्लाह भी बोल उठा,—‘सेठजी, इस कामको छोड़ दें तो करें क्या? कुछ भी तो करना ही है।’

मतलब कहनेका यही है कि हमें एक दिन मरना है, यह स्मृति बनी रहे तो इतना पाप हम न करें। हम जो यह छल-कपट करते हैं, झूठ-सच बोलते हैं, यही सोचकर करते और बोलते हैं कि इसका उपयोग हम सदा करते रहेंगे। यदि हम भगवान्‌को अपना स्वामी मानकर उनका विश्वास करके काम करें तो हमें जो ये व्यर्थकी इतनी चिन्ताएँ होती हैं, वे कदापि न हों।

जीवनमें यदि नम्रता न हो तो वह परमार्थकी ओर बढ़ ही नहीं सकता। हम जो दूसरोंको नीचा समझते हैं, यह हमारा अहङ्कार है। परमार्थके पथिकको सदा नम्रताकी आवश्यकता है। अरे इन छोटे-मोटे पदोंपर, तनिक-सी जमीनपर इतना अभिमान करते हो ! ये हमें परमार्थसे भ्रष्ट करनेवाले विचार हैं। अतः परमार्थके पथिकको बड़ी नम्रतासे देवमन्दिरोंमें भगवान्‌के सम्मुख, ब्राह्मणों, साधु-महात्माओं और विद्वानोंके सम्मुख प्रणाम करना चाहिये। पहला साधन यही है—साधु पुरुषोंका संग, तथा भगवत्-विग्रहों एवं अपनेसे बड़ोंको प्रणाम करना।

घरमें रहकर भी ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया जाता है। शास्त्रोंकी जैसी आज्ञा है, उसके अनुसार बर्ताव करना अर्थात् केवल सन्तानोत्पत्तिके लिये ऋतुकालमें अपनी विवाहिता पत्नीको वीर्यदान देना और शेष समय संयम-नियमसे रहना, यह भी एक प्रकारका ब्रह्मचर्य-व्रत ही है और यह घरहीमें रहकर किया जा सकता है। किसीको मन, वाणी, शरीरसे कष्ट न पहुँचाना, एवं अपनेसे जितना बन सके दूसरोंकी सहायता करना, यह परमार्थके पथिकका प्रधान कर्तव्य है।

गृहस्थमें रहते हुए सभी प्रकारके लोगोंसे काम पड़ता है, सभी तरहके लोग मिलते हैं, सभी तरहकी बातें सुननी पड़ती हैं; अतः मनुष्यको चाहिये कि वह भरसक वाणीपर संयम रखे। कभी कोई ऐसा कटु शब्द न बोले जो दूसरोंको दुःखदायी हो। वाणीका संयम ही सर्वश्रेष्ठ संयम है। भरसक ऐसा प्रयत्न किया जाय कि असत्य मुखसे निकले ही नहीं; यदि कभी भूलसे असत्य निकल जाय तो उसके लिये कुछ प्रायश्चित्त करे। जैसी स्थिति भगवान्‌ने दी हो, उसीमें सन्तुष्ट रहकर अपने कर्तव्यका दृढ़ताके साथ पालन करते रहना, यही मनुष्यका परम धर्म है।

बहुत-से लोगोंको यह कहते सुना गया है कि महाराज, क्या करें, हमारा काम ही ऐसा बाहियात है कि बिना झूठ बोले, बिना बेईमानी किये काम ही नहीं चलता। यह बात ठीक भी है, आजकल हमारी प्रवृत्ति इतनी गिर गयी है कि हम झूठ-कपटके आदी बन गये हैं। ऐसी स्थितिमें झूठ-कपटसे बचना कठिन तो अवश्य है और परमार्थका मार्ग सहज है भी नहीं—किन्तु असम्भव नहीं है, यदि हम इसपर कमर कस लें। ऐसा करनेसे आरम्भमें कुछ कष्ट तो जरूर होगा, असुविधा भी दीखेगी; किन्तु यदि हम सत्यका पछा पकड़े रहे तो अन्तमें सुख-ही-सुख है, आनन्द-ही-आनन्द है। वास्तवमें रुपये-पैसेमें सुख थोड़े ही है, आनन्द तो मनका धर्म है। लाखों रुपये होते हुए भी जिसे मानसिक ग्लानि है वह सबसे बड़ा दुखी है और जिसे मानसिक शान्ति है वह भिक्षुक होते हुए भी सुखी है। और ऐसी शान्ति सत्यका आश्रय ग्रहण करनेपर ही मिल सकती है।

काम न तो कोई अच्छा है, न बुरा; सभी कामोंमें कुछ-न-कुछ दोष रहता ही है। जो कर्तव्य तुम्हारे सामने है, उसीका दृढ़ताके साथ पालन करो। महाभारत-में इस विषयके अनेकों दृष्टान्त हैं। किसी ब्राह्मण-कुमारके माता-पिता वृद्ध थे, वह उनकी सेवा छोड़कर तपस्या करने चला गया। एक वृक्षके नीचे बैठकर उसने घोर तपस्या की। तपके प्रभावसे उसे सिद्धि प्राप्त हो गयी। ऊपरके वृक्षपर दो पक्षी चेटाई, उसके थे, उस तपस्वी युवकने उनकी उड़ने देखा तो देख भर दिया। देखते ही पक्षी सोमन्तोकी भाँति तपस्वीको अपनी तपस्या में रुकावट थे, परन्तु उनके भिक्षा करने एक कलक अवश्य पड़नेपर भी हरि की आज्ञासे वे लगे रहते। पत्तिकी सेवामें बड़ा उत्सव-मरणागत (४) वह जीवों

बोले—इसे मेरे तप-बलका पता नहीं है ! भीतरसे उस पतिव्रताने कहा—‘महाराजजी’ यहाँ पेड़के पक्षी नहीं हैं जो आपकी दृष्टिसे ही मर जायँ। आप अभी खड़े रहिये, मैं पतिसेवामें लगी हूँ। तपस्वीको बड़ा आश्चर्य हुआ। जब वह पतिसेवासे निवृत्त होकर भिक्षा देने आयी, तब तपस्वीने नम्रतासे पूछा—‘माता, उन पक्षियोंके मरनेका तुम्हें कैसे पता चला?’ पतिव्रताने कहा—‘महाराजजी ! पतिसेवा करना ही मेरा प्रधान कर्तव्य है, उसी धर्ममें मैं लगी रहती हूँ; इसीके प्रभावसे मुझे सब सिद्धियाँ प्राप्त हैं। मुझे अब अधिक अवकाश नहीं है; आप अधिक जानना चाहें तो अमुक व्याधके पास जाइये, वह आपको अधिक उपदेश दे सकेगा।’

तपस्वी सीधे व्याधके पास गये। वह मांस वेच रहा था। तपस्वीको देखते ही उसने कहा—‘महाराज, अमुक पतिव्रताने आपको भेजा है? आप बैठिये, कुछ देर बाद मैं आपसे बातें करूँगा।’ तपस्वीके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। वह बैठा रहा। मांस वेचकर वह व्याध तपस्वीको अपने घर ले गया। वहाँ अपने माता-पिताकी विधिवत् सेवा करनेके बाद व्याधने कहा—‘भगवन् ! ये मेरे माता-पिता ही मेरे परम देवता हैं। इनकी सेवा करना ही इस समय मेरा प्रधान कर्तव्य है। और उस कर्तव्यका मैं बड़ी तत्परतासे पालन करता हूँ। इसीके प्रभावसे मुझे सिद्धियाँ प्राप्त हैं।’

तपस्वीका व्याधने उस तपस्वीको बहुतसे उपदेश दिये। तपस्वीसे कहा—‘तुम जाकर अपने माता-पिताको सेवा करो, यही तुम्हारा कर्तव्य है।’ तपस्वीने व्याध-उपदेश व्याध-गीताके अनुसार मान-मन्दर है।

इमानदारीके साथ सेवामें रहकर भी

जो भी काम आपको मिला है, उसका यथोचित-रूपसे सत्यताके साथ पालन कीजिये और अपने जीवनक सदाचारमय और भक्तिमय बना लीजिये। जिस परिवारमें प्रेम है, सत्यताका पालन होता है, छोटे लोग बड़ोंका आदर करते हैं, वह घर तो सचमुच भूवैकुण्ठ है। मैंने ऐसे कई परिवार देखे हैं, जिनमें छोटेसे लेकर बड़ेतक सभी भगवान्‌के प्रेममें रँगे-से हैं। दिनभर अपना-अपना काम करते हैं, शामको सब एक साथ बैठ जाते हैं। कोई कथा कहते हैं, सब लोग सुनते हैं; फिर सब मिलकर कीर्तन करते हैं। भगवान्‌का भोग लगाकर सब प्रसाद पाते हैं और प्रातः-सायं सभी मिलकर भगवान्‌की उपासना करते हैं। ऐसा गृहस्थ-जीवन यदि बीते तो यह तो त्याग-जीवनसे भी बढ़कर है। घरमें भगवान्‌की पूजा हो, नियमसे भगवान्‌की सेवा होती हो, तुलसीका विरवा घरमें हो, सभी चरणाभूत छेते हों, सब मिलकर भगवान्‌की किसी-न-किसी रूपमें उपासना करते हों, छोटे लोग बड़ोंका आदर करते हों, उनकी आज्ञा मानते हों तो वह घर नहीं, पारमार्थिक आश्रम है।

घरमें रहते हुए भी घोर त्यागमय जीवन बिताया जा सकता है। गङ्गा किनारे एक महात्मा अच्युत मुनिजी थे, वे मुझे बताते थे कि पंजाबमें एक सरकारी नौकर थे। पेन्शन लेनेके बाद वे घरके एक कमरेमें ही रहते थे। घरसे भोजन आ जाता। लड़के केवल दर्शन कर जाते, उन्हें घरके किसी कामसे मतलब नहीं। घरमें सबसे प्यारा उनका पोता मर गया। बारह-तेरह दिनतक उन्हें पता भी नहीं चला। जब पतोहू एक दिन प्रणाम करने गयीं, वह रो पड़ी। तब उन्हें पता चला।

बुलंदशहरमें एक वैद्यजी हैं, वे अपने बच्चोंमें ही रहते हैं। बारह वर्षतक वे ऊपरसे नीचे नहीं

उतरे, बड़े स्वस्थ हैं। यह एक दृष्टान्त दिया। इस प्रकारका जीवन तो एक प्रकारसे त्यागमय जीवन ही है। घरमें काम करते हुए भी परमार्थ-साधन हो सकता है। कोई भी एक निष्ठा घरमें रहकर दृढ़ हो जाय; वस, उसीमें कल्याण है। एक निष्ठा दृढ़ हो जानेपर बाकी सब बातें गौण हो जाती हैं। जैसे महाराज हरिश्चन्द्रने 'जो माँगो सो दें' यह निष्ठा कर ली थी। इसके पीछे प्रजापालनका कर्तव्य उनके लिये गौण हो गया। भक्तमालमें ऐसी बहुत-सी कथाएँ आती हैं। जिनकी अतिथिसेवा ही एकमात्र निष्ठा थी, उन्होंने अतिथि-सेवाके लिये अपने प्राणों की परवा नहीं की। जिन्होंने साधुसेवा ही अपनी निष्ठा

बना ली थी, उन्होंने डाका डालकर भी साधुसेवा की और भगवान् उनसे प्रसन्न हुए। इस प्रकार सत्यका, जपका, ध्यानका, कीर्तनका कोई एक दृढ़ नियम हो तथा और सब कार्योंको कर्तव्य समझकर करते जायें तो हम घरमें रहकर भी प्रभु-प्राप्ति कर सकते हैं।

बातें बहुत कहनी थीं, किन्तु अब समय नहीं; इसलिये उसी श्लोकका अर्थ देकर जो इस निबन्धके पूर्व उद्धृत किया है, अपने वक्तव्यको समाप्त करता हूँ—

‘अपने घरहीपर रहकर सुखपूर्वक लेटे-लेटे ही जो भगवान्‌के गोविन्द, दामोदर, माधव आदि नामोंका प्रेमपूर्वक उच्चारण करते हैं, वे निश्चय ही प्रभुमें तन्मयताको प्राप्त करते हैं।’

वैराग्य-चर्चा

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकके एक व्याख्यानके आधारपर)

वैराग्यका विषय बड़ा ही महत्त्वका है। वन हो, पहाड़ हो, गंगाका किनारा हो—ऐसे स्थलोंमें वैराग्यकी चर्चा अधिक शोभा देती है। ऋषि-महात्मा लोग वनों, पहाड़ों और गंगातटपर रहकर ही तप किया करते थे। अब भी उत्तराखण्डमें रहनेसे स्वाभाविक ही वैराग्य होता है। वहाँके स्थानोंमें वैराग्यके परमाणु ओतप्रोत हैं। वैराग्यके योग्य भूमि हो, वक्ता वैराग्यमय हो और श्रोता सत्पात्र हो तो वैराग्यका वर्णन करते ही वैराग्य जागृत हो जाता है—वैसे ही, जैसे कामीके हृदयमें कामिनीके चर्चनसे काम जागृत हो जाता है। वैराग्यकी बात वैराग्यवान् ही कह सकता है। सच्चे वैराग्यवान् पुरुषको तो कहनेकी भी जरूरत नहीं पड़ती, उसके साथ तो वैराग्य मूर्तिमान् होकर चलता है। वह जिस मार्गसे जाता है, उस मार्गमें मानो वैराग्यकी बाढ़ आ जाती है। उसके नेत्रोंसे वैराग्यका भाव निकलकर सब जगह व्याप्त हो जाता है।

वैराग्यके साथ उपरामता लगी रहती है और उसके साथ भगवान्‌का ध्यान लगा रहता है। आगे वैराग्य,

बीचमें उपरामता, पीछे ध्यान, इस प्रकार तीनों साथ-साथ चलते हैं—जैसे वन जाते समय राम, सीता और लक्ष्मण चलते हैं। रामके साथ सीता रहती ही हैं, साथ ही रामके बिना लक्ष्मणको चैन नहीं और लक्ष्मणके बिना रामको चैन नहीं रहता। राम सीताको बीचमें रखते हैं। जहाँ सच्चा वैराग्य हो, ध्यान होता हो, साधन तीव्र हो, वहाँ उपरामता रहती ही है। इसी प्रकार भक्तिके साथ उसके दोनों पुत्र ज्ञान और वैराग्य रहते ही हैं। ज्ञान, वैराग्य बूढ़े हो जाते हैं; पर उनकी माँ भक्ति कभी वृद्ध नहीं होती।

वैराग्यवान्‌के दर्शनमात्रसे वैराग्य चेचटाई, उसके उसके इशारेसे—व्याख्यानसे वैराग्य के उभरने के आश्चर्य ही क्या है? वैराग्य के सामान्तोको भी वैराग्यका हृदय भी पकड़ ले, परन्तु उनके दर्शनसे एक वैराग्यी कलक अवश्य पड़नेपर भी हरिदासजीके ससी में लग गये उनके रहते करने-जा सकते हैं। बड़ा उत्सव-स्रणागत (४) वह जीवें

संसारके पदार्थोंमें आसक्ति न होनेका नाम वैराग्य है । संसारके किसी भी भोगमें आसक्ति न रहे, प्रीति न रहे, लगाव न रहे—यहाँतक कि ब्रह्मलोकके सम्पूर्ण भोग भी काकविष्ठावत् प्रतीत होने लगें; यही वैराग्य है । भोग्य पदार्थोंकी ओर वृत्तियाँ ही न जायँ, यह उपरामता है । वैराग्ययुक्त उपरामता ही श्रेष्ठ है, बिना वैराग्यके उपरामता कच्ची होती है । ऋषभ-देवजीमें बड़ी भारी उपरामता थी, गौतमबुद्धसे भी बढ़कर ! ऋषभदेवजीके समान उपरामताका कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता । संसारमें विचरते हुए भी उन्हें संसारका ज्ञान न था । वनमें आग लगी है,

किन्तु उन्हें इस बातका पता भी नहीं। अन्तमें शरीरमें आग लग गयी, शरीर आगमें जलकर भस्म हो गया; पर ऋषभदेवजीको तब भी आगका पता न चला। यह उपरामताकी सीमा है। ऐसी मस्तीमें स्थित हो जाया जाय कि कुछ पता ही न चले। शरीरका अध्यास ही न रह जाय ! किसी भी संन्यासी अथवा गृहस्थमें ऐसी उपरामता आ जाय तो वह बहुत प्रशंसनीय है। केवल भीतरी उपरामता भी कम महत्त्वकी बात नहीं है। आत्माके कल्याणके लिये तो भीतरी उपरामताकी ही विशेष आवश्यकता है। राजा जनकमें बाहरी उपरामता नहीं थी। वास्तवमें तो उनकी दृष्टिमें जगत्का अभाव ही था। शुकदेवजीमें बाहरी-भीतरी दोनों प्रकारकी उपरामता थी। जनकजीने शुकदेवजीसे कहा था—‘महाराज, आपमें बाहरी और भीतरी—दोनों प्रकारकी उपरामता है, अतः आप मुझसे श्रेष्ठ हैं। आपको कुछ सीखना नहीं है। जाकर ध्यान लगाइये।’ यह सुनकर शुकदेवजी चले गये, जाकर उन्होंने ध्यान लगाया। ध्यान लगाते ही उनको समाधि लग गयी, भगवान्की प्राप्ति हो गयी।

समुद्रमें अनेकों नदियोंका जल पड़ता है; परन्तु वह ज्यों-का-त्यों गम्भीर है, अपनी महिमामें परिपूर्ण है। ऐसे ही ज्ञानी, महात्मा, विरक्त, निष्कामी पुरुष अपनी महिमामें परिपूर्ण होते हैं। उन्हें संसारके पदार्थ आप-से-आप आकर प्राप्त होते हैं। वे व्यवहार भी करते हैं, परन्तु विकारको नहीं प्राप्त होते; उन्हें शान्ति ही प्राप्त होती है (देखिये गीता २।७०)। ज्ञानी महात्माकी दृष्टिमें संसारका अत्यन्त अभाव होता है और संसारी नास्तिक पुरुषोंकी दृष्टिमें परमात्माका अत्यन्त अभाव है। विषयी पुरुषके मनमें यह शंका रहती है कि परमात्मा है या नहीं। किन्तु नास्तिक कहता है कि ‘परमात्मा है ही नहीं।’ इसी प्रकार ज्ञानीके लिये संसार नहीं है। सच्ची उपरामता वैराग्यसे ही होती है। उसीका फल है ब्राह्मी स्थिति। उसे जो

प्राप्त कर लेता है, वह मोहको नहीं प्राप्त होता। अन्तकालमें भी उस स्थितिके प्राप्त हो जानेपर ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। गीताके दूसरे अध्यायके ६८, ६९, ७०, ७१, ७२ इन श्लोकोंमें महात्माओंके स्वामाविक वैराग्य एवं उपरामताका दिग्दर्शन कराया गया है। ६८वें, ६९वें श्लोकमें उपरामताकी तथा ७०वें और ७१वें श्लोकमें वैराग्यकी बातें कही गयी हैं। ये प्राप्त पुरुषोंके लक्षण हैं और साधकोंके लिये यही साधन हैं। इनको लक्ष्यमें रखकर साधन करनेवाले विरक्त पुरुषोंका भाव और आचरण संसारी पुरुषोंकी अपेक्षा विलक्षण होते हैं।

रागी और विरागी पुरुषोंमें रात-दिनका अन्तर है, अन्धकार और प्रकाश-जितना अन्तर है। वास्तवमें तो वैराग्यवान् पुरुषकी पहचान होना ही कठिन है। कपूरकी गन्धको कुत्ता और कस्तूरीकी गन्धको गदहा क्या पहचान सकता है? वैराग्यवान् पुरुष ही वैराग्यवान्की स्थितिका थोड़ा अनुमान कर सकता है। जो पदार्थ रागी पुरुषको प्रिय होते हैं, वे वैराग्यवान्को उल्टे ही प्रतीत होते हैं। मान-बड़ाई रागी पुरुषको अमृत-सी लगती है, पर वैराग्यवान्को वह विष-सी प्रतीत होती है। रागीको इत्र, फुल्ले, लवेंडर आदि सुगन्धित द्रव्य अच्छे लगते हैं; पर वैराग्यवान् इनको घृणाकी दृष्टिसे देखता है। दोनोंकी रुचि विपरीत होती है। मखमलका गद्दा रागीको अच्छा माछम देता है, पर वैराग्यवान्को वह दुःखरूप प्रतीत होता है। जहाँ मन आया वहीं पड़ रहे; भूमि हो या चटाई, उसके लिये सब बराबर है—वैराग्यके नशेमें उसे तुल्य भासता है। वैराग्यवान्की सामान्त्यकी भाँति हैं। किसी स्थानपर रात में सोते हैं, परन्तु उनके हों, जाड़ा पड़ रहा होना कलक अवश्य पड़नेपर भी चट्टियाँ पड़ी हों—सी तैयारी में लग गये रहते—करने-दुशालेपर पड़े बड़ा उत्सव-स्वर्णागत (४) वह जीवें जब दुशाले

परन्तु वैराग्यवान्का हाथ उस स्थितिमें भी स्वाभाविक ही चट्टियोंपर जायगा, दुशाले अथवा कम्बलपर नहीं ।

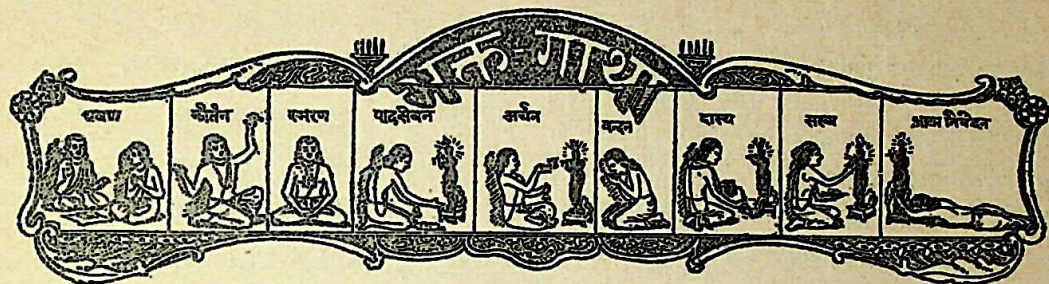
वैराग्यवान्को जो सुख प्राप्त होता है, वह रागीको कभी नहीं मिलता । वैराग्यवान्का सुख सात्त्विक सुख होता है । जहाँ फूलोंकी वर्षा हो रही होगी वहाँ वह जायगा ही नहीं । उसे तो संसारके सभी सुख बुरे मादुम होते हैं । संसारके सुख ही क्यों, देवता उसके सामने विमान लेकर आवें तो भी वह उनकी ओर आँख उठाकर नहीं देखेगा, उल्टा उन्हें देखकर घबड़ा जायगा । उसे तो यों ही अनन्त सुख मिल रहा है । दधीचिके पास इन्द्र जाता है, ऋषि ध्यानमें मस्त हैं । आँख खुलनेपर इन्द्र उन्हें कुछ उपदेश सुनानेके लिये कहता है । ऋषि कहते हैं—‘इन्द्र ! तेरा सुख कुत्तोंका-सा है ।’ जिस स्थितिमें इन्द्रलोकका सुख—इन्द्राणोका सुख भी कुत्तोंके सुख-सा लगता है, वह कितने अगाध सुखकी स्थिति है, जरा इसका विचार तो कीजिये ! छोटे बच्चे मखमलके कोट पहनते हैं, गोटेकीकामदार टोपी पहनते हैं, खिलौनोंको लेकर खूब आमोद-प्रमाद करते हैं । वे अपने पितासे कहते हैं कि ‘तुम भी खेडो ।’ पर पिता उनके इस आग्रहपर हँसता है । बालकके चमकौंटे कपड़ोंसे हम सबको स्वाभाविक ही वैराग्य होता है, वे हमें अच्छे नहीं लगते । इसी प्रकार वैराग्यवान् पुरुषोंको जो भोगकी चीजें देते हैं, उनकी इस चेष्टापर वैराग्यवान् हँसते हैं । उनकी वृत्तियोंमें वैराग्यके कारण इतना आनन्द भरा रहता है कि उसका वर्णन नहीं किया

उसे अमृतकी भी उपमा नहीं दी जा सकती । क्षण-क्षणमें आनन्दकी लहरें उसकी स्थितिको कैसे समझें, माँपके काटनेपर जिस आती हैं, समुद्रमें बलीका करोड़

झू जानेपर जिस प्रकार रक्तमें दुःखद लहरें उठती हैं, वैसे ही वैराग्यमें सुखकी लहरें उठती हैं । वास्तवमें ये उदाहरण भी वैराग्यजनित सुखकी लहरोंको समझा नहीं सकते । उनको समझानेके लिये संसारमें कोई उदाहरण है ही नहीं । यदि कामी पुरुषका दृष्टान्त दें तो उसको शान्ति, आनन्दका क्या पता । लोभीको पारस मिलनेपर जो आनन्द मिलता है, उसके साथ भी इसकी तुलना नहीं दी जा सकती; क्योंकि उस आनन्दके साथ यह भय भी लगा रहता है कि उस पारसको कोई छीन न ले जाय । पारसके छिन जानेके भयके साथ उसे अपनी नृत्युका भी भय रहता है कि इस पारसके पीछे कोई उसे मार न दे । अस्तु, वैराग्यवान्के अनन्त सुखके सामने सांसारिक सुखका कोई भी उदाहरण नहीं ठहरता । रागीको संसारके विषयभोगोंको भोगनेमें जो आनन्द प्रतीत होता है, वैराग्यवान्को वही दुःख प्रतीत होता है । वैराग्यवान्पर वैराग्यका ऐसा नशा चढ़ा रहता है कि भोगोंकी ओर वह दृष्टि ही नहीं डालता, उनमें उसे रस ही नहीं मिलता । वह तो वैराग्यके रसमें ही सराबोर रहता है । उपरामता होनेपर जो रस मिलता है, वह वैराग्यसे भी अधिक होता है । और भगवान्के ध्यानमें तो और भी विशेष सुख मिलता है । गीताके ५वें अध्यायका २१वाँ श्लोक देखिये—

ब्राह्मस्पर्शोन्मसक्कात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥

इस सुखको कैसे समझाया जाय ! सारा जगत् तो परमात्मरूप अमृतसागरकी एक बूँदके आभासमें ही आनन्दित हो रहा है—मुग्ध हो रहा है; ध्यानजनित सुख उसकी एक बूँदके समान है । जिसकी बूँदमें इतना सुख है, उस सुखसागरके साक्षात् मिल जानेपर कितना अपार सुख मिलता है, उसे कोई समझा नहीं सकता । वह तो मन-वाणीसे अतीत है ।



हो रक्षिया, मैं तो शरण तिहारी ।
नहिं साधन बल बचन-चातुरी ,
एक भरोसो चरणे गिरिधारी ॥
कडुइ तुँ बरिया मैं तो नीच भूमि की ,
गुणसागर पिथा तुमहि सँवारी ॥
मैं अति दीन बाळक तुम शरणे ,
नाथ न दीजे अनाथ बिसारी ॥
निज जन जानि सँभारोगे प्रीतम ,
प्रेमसखी नित जाउँ बलिहारी ॥

मध्यप्रान्त-छत्तीसगढ़ परगनेके विलौदाँ गाँवके पास एक टूटे हुए मन्दिरकी सीढ़ियोंपर एक पागल-सालङ्का बड़े ही मधुरस्वरमें भैरवीकी तान अलाप रहा है । प्रातःकालका समय है । अभी उषा गगनांगनमें अरुणसे आँखमिचौनी खेल रही है । पक्षियोंकी चह-चहसे सारा बगीचा गहगहा रहा है और बगीचेके पास ही एक जीर्ण-शीर्ण बहुत पुराना मन्दिर है, जिसके जगमोहनमें पीपल और पाकरके पेड़ उग आये हैं, चिड़ियोंने घोंसले बना रखे हैं और गिलहरियाँ खञ्जन्द विचरण कर रही हैं । ऐसी सुनसानमें कोई विरही अपनी धुनमें अलमस्त गा रहा है; आप ही गा रहा है, आप ही सुन रहा है—

X X X

लगभग तीन सौ वर्ष पूर्वकी यह बात है, परन्तु लगती है जैसे कलकी हो। एक अत्यन्त अकिञ्चन ब्राह्मणके घर मुरारीका जन्म हुआ। इस कङ्गाल, निरीह परिवारमें इतना सुन्दर-सुषुप्त, इतना स्वस्थ और

भाग गयो मेरो भाजन फोर ।

कहा री कहुँ ? सुन, मात यशोदा, और माखन खायो सब चोर ॥
लरका पाँच-सात सँग लीने, रोके रहत साँकरी खोर ।
मारगमें कोड चलन न पावत, लेत हाथ ते दूध भरोर ॥
समझ न परत याहि डोटा की, रात दिवस रहै गोरस डँडोर ।
आनंदे फिरत फाग सों खेलत, तारी देत हँसत मुख मोर ॥
सुंदर स्याम रँगोलो डोटा, सब ब्रज बाँध्यो प्रेम की डोर ।
परमानंद सयानी ग्वालिन लेत बलैयाँ अंचर छोर ॥

गाँवकी ग्वालिनें इसी गीतको बार-बार सुनतीं ।

उन्हें ऐसा लगता मानो उनका यह परम प्यारा मुरारी वस्तुतः वही मुरारी था जिसने बाँसुरी बजा-बजाकर गोपियोंको मनमाना नाच नचाया था । वे अपने आनन्द-रसके लिये कभी-कभी मुरारीको पीली रेशमी धोती पहना देतीं, नीचेतक लटकती हुई वनमाला गलेमें डाल देतीं, बड़े-बड़े बालोंकी कबरी बाँधकर उसमें मोरकी पाँख खोंस देतीं और हाथमें एक लकुटिया और मुरली दे देतीं । मुरारीकी बड़ी-बड़ी आँखें और साँवले मुखड़ेको वे जब काजल और चन्दनकी खौरसे सजा देतीं तो सचमुच वह त्रिभुवन-मोहन श्यामसुन्दर-सा सलोना लगने लगता । इसपर जब वे उसके पैरोंमें धुँधुरू बाँध देतीं और उसे ताली दे-देकर नचाने लगतीं तब तो कुछ और ही समाँ बँध जाता था ।

परन्तु यह रास-रंग अधिक दिन न चल सका । चलता कैसे ? जिसे प्रभु अपनानेको होते हैं, उसे बलात् अपनी ओर खोंच लेते हैं और उसके सारे सम्बन्ध क्षोण और शिथिल कर देते हैं । पहले तो कुछ दिनों तक, कुछ दिन बाद माँने भी साथ छोड़ दिया, और माँने प्यारसे मुरारीको अपने गालोंको चूमती हुई रखा, वही जा जाना है । मैं हँसते-हँसते जाती हूँ; क्योंकि मैंने तुम्हारे हृदयमें श्रीकृष्ण-प्रेमकी लता रोप दी है, उसे सींचकर पल्लवित-पुष्पित कर दिया है और मैं देख रही हूँ वह लता तुम्हारे हृदयमें लहलहा उठी है । जो सबकी सँभाल रखते हैं, वे ही तुम्हारी भी सँभाल रखेंगे—मैं नाहक चिन्ता क्यों करूँ ? तुम जहाँ रहो, प्रभुके प्रेममें छके रहो—यही मेरा अन्तिम आशीर्वाद है । भगवान् तुम्हारा सब प्रकार मज्जल करें.....!

माताके चले जानेके बाद मुरारीको वह घर काटने-सा लगा । बार-बार उसके हृदयमें माँके स्नेहकी स्मृति उमड़ आती । ऐसा मादूम होता मानो माँ साक्षात् उसके सामने खड़ी है और कह रही है—‘मैं तुम्हें छोड़कर कहाँ गयी हूँ ? तुम्हारे हृदयमें जो प्रेमकी लता लहलहा उठी है, मैं उस लताकी छायामें बहुत सुखसे सो रही हूँ ।’ माताकी एक-एक बात मुरारीको याद आती और उस यादमें वह विह्वल हो उठता । ऐसी दशामें वह प्रायः गाँवसे बाहर जाकर उस टूटे हुए मंदिरकी सीढ़ियोंपर बैठकर जो जीमें आता गाया करता ।

चारों ओरसे अपनेको सर्वथा अनाथ और आश्रय-हीन पाकर मुरारीके मनमें गाँव छोड़ देनेकी बात प्रायः आया करती । वह सोचता, यहाँ अब क्या रक्खा है जो मैं रहूँ ? एक माँ थी, उसने भी साथ छोड़ दिया; अब यहाँ किसके लिये रहना है ? परन्तु मुरारी जब कभी मंदिरके पास जाकर बैठता तो उसे बड़ी शान्ति मिलती । इसीलिये वह अधिकाधिक मंदिरके पास ही रहता । गाँवकी स्त्रियाँ उससे स्नेह करतीं, उसपर दया रखतीं; परन्तु खयं मुरारीका चित्त उचट गया था । कभी-कभी अपने घरसे कुछ भोजन लाकर कोई माता मुरारीको खिला जाती, उसे प्यार करती, पुचकारती और कहती—‘बेटा ! तुम्हारी माँ नहीं है तो क्या हुआ, हम सभी तो तुम्हारी

माताएँ ही हैं, तुम इतना बिलग क्यों मानते हो ?' मुरारी कुछ भी नहीं बोलता, मन मारकर रह जाता।

एक बार लगातार तीन दिनतक मुरारीको कुछ भी खानेको न मिला। न किसीने उससे पूछा, न वह स्वयं किसीके यहाँ गया ही। भूख-प्याससे प्राण व्याकुल थे, परन्तु फिर भी उसके मनमें यह बात नहीं आयी कि गाँवमें जाकर किसीके यहाँ कुछ खा लें। आधी रात बीत चुकी थी। चारों ओर सन्नाटा था, परन्तु मुरारीके हृदयकी वही दशा हो रही थी जो पानी सूख जानेपर तालाबकी होती है। बेजार होकर मुरारी धीरे-धीरे गुनगुनाने लगा—

बिसर न जाओ मेरे मीत । यह बर माँगूँ मैं नीत ॥
मैं मतिमंद कलू नहिं जानूँ, नहिं कछु तुम सँग हीत ।
बाँह गहेकी लाज है तुमको, तुम सँग मेरी जीत ॥
तुम रीझो ऐसो गुन नाहीं, अवगुणकी हूँ भीत ।
अवगुन जानि विसारोगे जीवन, होऊँगी मैं बहुत फजीत ॥
मेरे हृद भरोसो जिय में, तजिहौ न मोहन प्रीत ।
जन अवगुन प्रसु मानत नाहीं, यह पूरब की रीत ॥
दीनबंधु अति मृदुल सुभाळ, गाऊँ निस दिन गीत ।
प्रेमसखी समझूँ नहिं ऊँडी, एक भरोसो चीत ॥

आज मुरारी जानता था कि मेरा यह अन्तिम संगीत है और प्रसुके चरणोंमें मेरी यह आखिरी भेंट है। आज उसका खर लड़खड़ा रहा था—आँसुओंकी झड़ी लगी हुई थी, प्राण छटपटा रहे थे। इस जनाकीर्ण जगतीमें वह अपनेको सर्वथा एकाकी पा रहा था, जिसके आगे-पीछे कोई भी न हो। परन्तु जिसका कोई नहीं होता उसके प्रसु होते हैं।

मुरारी गीत पूरा नहीं कर पाया था, लड़खड़ाकर बीचहीमें बेहोश होकर गिर पड़ा और बार-बार एक ही पंक्ति 'तजिहौ न मोहन प्रीति'—बस, यही गुनगुनाने लगा। इतनेमें वह देखता क्या है कि उस जीर्ण-शीर्ण मंदिरसे कोई देवी सुन्दर वस्त्राभरणोंसे सुसज्जित, त्रैलोक्यसुन्दरी, अग-जग-मोहिनी यकायक

निकली। एक हाथमें नाना व्यञ्जनसे भरा हुआ सोनेका थाल और दूसरे हाथमें शीतल जलसे भरी हुई चमचमाती हुई झारी। उसने मुरारीके सिरको गोदमें रखकर कहा, 'बेटा ! जिसकी कोई भी सुख लेनेवाला नहीं होता उसकी सुध मैं लेती हूँ। सारा संसार मेरी सन्तान है। सबके लिये मेरे हृदयमें अपार प्रीति और व्यथा है। मैं किसीकी उपेक्षा करूँ, यह कैसे हो सकता है ? तुम्हारा दुःख देखकर मैं रो पड़ी। उठो, भोजन करो।' मुरारी समझ नहीं रहा है कि यह सब क्या हो रहा है। वह अब भी अर्ध-चेतन दशामें है। माता अपने हाथोंसे उसे खिलाने लगी। खिला-पिलाकर माँने प्यारसे उसके सिरको सहलाया। मुरारी माताकी गोदमें सिर रखकर बेखबर सो गया। दूसरे दिन उसकी नींद खुली तो दिन निकल आया था, लोगोंका चलना शुरू हो गया था। गायें चरनेके लिये छूट चुकी थीं, पक्षी अपने-अपने घोंसलोंमेंसे बाहर निकलकर आहारकी खोजमें उड़ गये थे।

जागनेपर मुरारीकी दशा एक विक्षिप्तकी-सी हो गयी। रातकी बात वह सोचता और बुका फाड़-फाड़कर रोता। घंटों रोया करता। कई दिनतक ऐसा ही चला। अब कुछ होश हुआ तो एक अजीब सनक सूझी। जो भी मिल जाता उसीके चरणोंमें गिरता, माँ-माँ पुकारता और बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे उसकी चरण-रज सिर-आँखोंपर लगाता। राह चलने-वाला ब्राह्मण हो या चाण्डाल, मुरारीके लिये समी साक्षात् जगज्जननी राधारानी ही थीं। धीरे-धीरे सोमन्तोकी भी फैल गयी और वहाँके नरेशको मुहूर्त मिल गया। उसने उसे पकड़ लिया, परन्तु उनके इस अनाचारपर उसे कालक अवस्य पड़नेपर भी मुरारीको अब किसीके लगे लग गये नक रहते करने-लिये तो समी बड़ा उत्सव-स्वर्णागत (४) वह जीवों पूरी मस्तोमें

कमलमुख देखत तृप्ति न होय ।

यह सुख कहा सुहागिन जानै, रही निसा भर सोय ॥
ज्यों चकोर चाहत उडुराजै चंदबदन रही जोय ।
नेक अकोर देत नहि राधा, चाहत पियहि निचोय ॥
उन तौ अपनो सर्वस दीनो, एक प्राण बपु दौय ।
भजन भेद न्यारो परमानंद जानत विरलो कोय ॥

मुरारीको अब कुछ भी कहना-सुनना नहीं था । क्या कहता ? उनके हृदयमें तो 'एक' ही रम रहा था, दूसरा कोई था ही नहीं कि कुछ कहे-सुने । वैष्णवोंमें जो जातिभेद करते हैं, पीपल और तुलसी-को जो वृक्ष मानते हैं, शालग्रामको जो शिला मानते हैं, वे घोर पातकके भागी होते हैं । मुरारी छत्तीसगढ़को नमस्कार कर पाँव पयादे चल पड़ा और कई महीने बाद वृन्दावन—अपने प्यारेके देशमें पहुँचा । वहाँ उसका एकमात्र काम था यमुनाके किनारे-किनारे घूमना; कभी नाचना, कभी गाना, कभी यों ही खिलखिलाकर हँसना और फिर तुरन्त दहाड़ मारकर रोना !

यों मिले इशकमें मिटकर मुझे हासिल मेरा,
ज़र्रः ज़र्रः तेरे कूचेका बने दिल मेरा ।

ऐसा ही होता है । प्रेमका नशा प्रेमी ही जानता है । प्रेमी अपने प्यारेके चरणोंमें त्रिभुवनको निछावर कर देता है—लोक-परलोकको छुटा देता है । इशकका हाल किसी आशिकसे पूछिये । जलनेका मजा परवानासे पूछिये । मुरारीको दुनिया पागल

पागलपनका शरूर कैसा होता

ह पागलपन किसी खुशनसीबको

अनुसार वृन्दावनके

पहचाना उस

मधुवनमें लीला करनेवालेकी पदध्वनिको । भक्तोंके लिये भगवान् कहीं दूर थोड़े हैं ? जहाँ हृदयका पट खुला कि भीतर-बाहर 'वही वह' रह जाते हैं ।

मनुष्यलोकमें निष्कपट प्रेम तो मिलता ही नहीं । कदाचित् किसीको मिल भी जाय तो उसे प्रेमका सारभूत विरह नहीं प्राप्त होता । यदि किसीको विरह भी प्राप्त हो जाय तो फिर वह जीवित तो कदापि रह ही नहीं सकता । विरहकी अग्नि जब धधक उठती है तो मनुष्यको कुछ भी सुहाता नहीं । सदा अपने प्यारेका ही चिन्तन बना रहता है । मन और इन्द्रियाँ सब चेष्टारहित होकर निश्चल हो जाती हैं । यह स्तम्भकी दशा है । शरीरमें एक अजीब तरहकी मीठी गुदगुदी, कँपकँपी होने लगती है और फिर शरीर पसीनेसे लथपथ हो जाता है । अनायास आँखोंसे गङ्गा-यमुना वह चलती हैं । रोनेमें एक अपूर्व सुख मिलता है । मुखसे स्पष्ट अक्षर नहीं निकलते, वाणी लड़खड़ाने लगती है, कण्ठ गद्गद हो जाता है । मुखपर एक प्रकारकी उदासी, पीलापन छा जाता है, आकृति कुछ-की-कुछ हो जाती है । शरीरके सभी अङ्ग पुलकित हो उठते हैं और फिर ऐसी बेहोशी आती है कि प्रेमी लोक-परलोकसे बेखबर होकर धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़ता है । विरहके इस अलौकिक आनन्दमें छका हुआ मुरारीयमुनाके किनारे-किनारे अलमस्त डोल रहा है । जो भी उसे देखता है, वही प्रेमकी उमड़ती हुई लहरोंमें बह जाता है । यह है प्रेमका दिव्य प्रभाव !

परन्तु यहाँ मुरारीके जानेके बाद छत्तीसगढ़नरेशकी दशा विचित्र हो गयी । राजमदमें चूर उन्होंने मुरारीको निर्वासित तो कर दिया, पर जब होश ठिकाने आया तब वे स्वयं अपने अपराधोंके लिये ग्लानिमें गलने लगे । यह पश्चात्ताप भी कितनी सुन्दर

वस्तु है ! पत्थरको मोम बना देता है। राजा अन्तःपुर-में विलख-विलखकर रोने लगे—‘हाय ! मैंने संत-अवज्ञा की, मैंने भगवान्‌का अपमान किया। अपना अपमान तो भगवान्‌ सह लेते हैं, परन्तु अपने भक्तका अपमान उनके लिये सर्वथा असह्य होता है। यदि संत मुरारीको मैं लौटा न लाया तो मेरा और मेरे परिवार तथा राज्यका शीघ्र ही महान्‌ अनिष्ट हो सकता है। मैं भगवान्‌के सामने क्या मुँह दिखलाऊँगा ?’ इस प्रकार उन्हें रोते-विलखते देख रानीने बहुत समझाया-बुझाया और दूसरे दिन राजा अपनी रानी तथा सामन्तोंके साथ मुरारीदासको मनाने वृन्दावनको चल दिये। वृन्दावन पहुँचकर राजाने पता चलवाया। मुरारीका नाम तो कोई जानता न था, परन्तु लोगोंने यह बतलाया कि यमुनाकिनारे एक पागल अलमस्त घूमा करता है—कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी गाता है, कभी नाचता है। किसीसे न कोई बात करता है, न कभी किसीकी ओर देखता ही है। अपनी ही धुनमें मस्त रहता है। जो कुछ मिल गया खा लिया, जहाँ जीमें आया सो गया। न ऊधोका लेना, न माधोका देना।

राजा समझ गये—‘हो न हो, वह मुरारीदास ही होगा; वे नंगे पैर ही यमुनाकी ओर चल पड़े। जेठकी दुपहरी ! चिलबिलाती हुई धूप-और आग बरसाती हुई ल । राजा अपने मन्त्री तथा रानीके साथ यमुनाके किनारे-किनारे घूम रहे हैं—संत मुरारी-दासकी टोहमें। देखते क्या हैं कि दूर-बहुत दूर, मुरारीदास यमुनाजीके किनारे तपती हुई बाल्यपर नृत्य कर रहे हैं—शरीरका कुछ भी होश-हवास नहीं है, नाचते जा रहे हैं, जो मनमें आता है गाते जाते हैं ! थोड़ी देरमें क्या देखते हैं कि नाचना-

गाना बन्दकर मुरारीदास यमुनाजलमें किलोलें कर रहे हैं—ठीक जैसे माँकी गोदमें नन्हा-सा शिशु खेल रहा हो ! घण्टों पानीमें ही तैरते और किलकारियाँ छोड़ते रहे। राजाने घाटके पास जाकर साष्टाङ्ग दण्डवत् किया और अपने अपराधोंके लिये गिड़गिड़ा-कर क्षमायाचना की।

परन्तु संतोंको किसीका अपराध स्मरण ही कहाँ रहता है ? उनका स्वभाव तो एक अबोध शिशुका-सा हो जाता है—जिसमें न काम है न क्रोध है, न द्वेष है न ईर्ष्या है, न मोह है न आसक्ति है। मुरारीदासने राजाकी ओर एक बार देखा और फिर जोरसे ठहाका लगाकर हँस पड़े। राजाको ऐसा मालूम हुआ मुरारीदास उन्हें पहचान ही नहीं रहे हैं। वस्तुतः मुरारीदास उन्हें अब पहचान नहीं रहे थे। उनके लिये तो सब कुछ श्रीवासुदेव हो चुका था। राजाने छत्तीसगढ़ लौट चलनेकी बहुत-बहुत अनुनय-विनय की, परन्तु अब मुरारीदास-को छत्तीसगढ़से क्या करना था ! वे तो स्वधाम, अपने प्राणप्यारेके धाममें आ चुके थे; अब यहाँसे लौटना क्या ? उन्मत्तकी-सी इस अवस्थामें उनके लिये अब कहीं भी आने-जानेका प्रश्न ही रह नहीं गया था ! आखिर राजाका मन कैसे मानता ? उन्हें तो अपने कियेपर गहरी ग्लानि हो रही थी। उन्होंने पालकी मँगवायी। बलात् मुरारीदासको उसमें बिठा-कर छत्तीसगढ़की ओर लिवा चले। महाराज स्वयं उस पालकीमें लगे और रानी तथा सामन्तोंको भी लगाया ! मुरारीदास जा तो रहे थे, परन्तु उनके मनमें वृन्दावन छूटनेकी कलक अवश्य पड़नेपर भी

दो महीने रास्तेमें लग गये नक रहते, करने-राजाने बहुत बड़ा उत्सव-मरणागत (४) वह जीवें

ब्राह्मणोंको अन्न-वस्त्र तथा मुहुरें बाँटीं । साधु-महात्माओंका अभ्यागत किया और उनकी चरण-धूलिमें अभिषेक किया । मुरारीदासके लौटनेपर मानों छत्तीसगढ़में नवीन प्राण, नवीन चेतनाकी स्फूर्ति हो आयी । सर्वत्र आनन्द-मंगलको बधाइयाँ होने लगीं । राज्यभरमें धूम मच गयी । राजाकी सारी जीवनचर्या पलट गयी । साधु-संग और प्रजापालनमें ही उनका सारा समय बीतने लगा । प्रजामें उनको नारायण-बुद्धि हो गयी और उनकी सेवामें राजाको बड़ा सुख मिलने लगा । संतोंके समागमका यही शुभ परिणाम होता है—उनकी कृपासे जब अंतर्दृष्टि खुलती है तो सारा नक्शा हो बदल जाता है ।

मुरारीदास यहाँ भी अपने गाँववाले टूटे मन्दिरकी सीढ़ियोंपर ही दिन-रात व्यतीत करते । बराबर

भीड़ लगी रहती दर्शनार्थियोंकी । वे सबसे यही कहते—‘मेरे दर्शनमें क्या रक्खा है, दर्शन करो अपने हृदयके ही भीतर उस बहुरूपिया हरिका । वे बड़े ही दयालु हैं—सबपर दया करते हैं और अवश्यमेव करते हैं—आवश्यकता है बस, हृदय खोलनेकी ! हृदयके भीतर ही तो हरि छिपे हैं—उन्हें खोजो, उन्हें पकड़ो, उन्हें पहचानो ।’ इतना कहकर वे झर-झर रोने लगते ।

एक दिन प्रातःकाल लोगोंने देखा—मुरारीदासकी कंथा और करवा वहीं मन्दिरकी सीढ़ियोंपर पड़े हुए हैं, परन्तु मुरारीदास अब वहाँ नहीं हैं । लोगोंने बहुत खोजा-ढूँढ़ा, परन्तु कहीं कोई उस पाग़्रका पता न चला ! लोगोंने सोचा—चला गया होगा वह साँवरेके देश ।



कल्याण

पद्धतियोंके फेरमें न पड़कर अपनेको भगवान्पर छोड़ दो; रास्तोंकी छान-बीन न करो और न किसी रास्तेकी खाक ही छानो; अगर तुम अपनेको सर्वथा निराधार मानकर उनपर छोड़ सके तो वे सर्वाधार ही तुम्हारे परमाधार बन जायेंगे । तुम्हारा हाथ पकड़कर, दिव्य प्रकाशकी ज्योति दिखलाकर—अधिक क्या, गोदमें उठाकर खिलाते-पिलाते और आनन्द देते ले चलेंगे ।

पर जब तुम उनकी गोदमें आ गये तब तुम्हें चलनेकी और कहीं पहुँचनेकी चिन्ता कैसी; तुम तो निहाल हो चुके, उनकी गोंदको पाकर । भगवान्की शरणागति यही है । जो भगवान्के शरण होकर उसका कोई दूसरा फल चाहता या समझता है, वह सब कुछ छोड़कर भगवान्के आश्रयमें आया ही नहीं ।

—शिव



दस प्रकारकी नौ-नौ बातें

(माननेकी और छोड़नेकी)

किसी व्यक्तिके घर आनेपर नौ अमृत खर्च करें—(१) मीठे वचन (२) सौम्य दृष्टि (३) सौम्य मुख (४) सौम्य मन (५) खड़े होना (६) स्वागत पूछना (७) प्रेमसे बातचीत करना (८) पास बैठना और (९) जाते समय पीछे-पीछे जाना ।

इनसे गृहस्थकी उन्नति होती है ।

दूसरोंको बहुत कम खर्चकी नौ वस्तुएँ गृहस्थोंको जरूर देनी चाहिये—(१) आसन (२) पैर धोनेको जल (३) यथाशक्ति भोजन (४) जमीन (५) विछौना (६) घास (७) पीनेको जल (८) तेल और (९) दीपक ।

इनसे गृहस्थकी अभीष्टसिद्धि होती है ।

नौ बातें उन्नतिमें बाधक हैं; इसलिये उनका त्याग करना चाहिये—(१) चुगली या निन्दा (२) परस्त्री-सेवन (३) क्रोध (४) दूसरेका बुरा करना (५) दूसरेका अप्रिय करना (६) झूठ (७) द्वेष (८) दम्भ और (९) जाल रचना ।

इनके त्यागसे उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है ।

नौ काम गृहस्थोंको रोज अवश्य करने चाहिये—(१) स्नान (२) सन्ध्या (३) जप (४) होम (५) स्वाध्याय (६) देवपूजन (७) बलिवैश्वदेव (८) अतिथिसेवा और (९) श्राद्ध-तर्पण ।

इनसे सुखकी प्राप्ति होती है ।

नौ बातें गृहस्थको गुप्त रखनी चाहिये—(१) जन्म-नक्षत्र (२) मैथुन (३) मन्त्र (४)

घरके छिद्र (५) वस्त्रना (६) आयु (७) धन (८) अपमान और (९) स्त्री ।

इनके प्रकाश करनेसे अनेकों प्रकारकी हानियाँ होती हैं ।

नौ बातें गृहस्थको प्रकाश करनी चाहिये—(१) छिपकर किया हुआ पाप (२) निष्कलंकता (३) ऋणदान (४) ऋणशोधन (५) उत्तम वंश (६) खरीद (७) बिक्री (८) कन्यादान और (९) गुण-गौरव ।

इनसे गृहस्थकी उन्नति होती है ।

नौ जनोंको गृहस्थको जरूर दान देना चाहिये—(१) माता (२) पिता (३) गुरु (४) दीन (५) अनाथ (६) उपकार करनेवाला (७) सत्पात्र (८) मित्र और (९) विनयशील ।

यह दान अनन्त फलदायक होता है ।

नौ आदमियोंको दान नहीं देना चाहिये—(१) खुशामदी (२) स्तुति करनेवाला (३) चोर (४) कुवैद्य (५) व्यभिचारी (६) घूर्त (७) शठ (८) कुस्तीका पेशा करनेवाला और (९) अपराधी ।

इनको देनेसे कोई फल नहीं होता ।

नौ वस्तुओंको किसी हालतमें विपत्ति पड़नेपर भी

नहीं देना चाहिये—(१) सन्तानके रहते, करने-दान (२) पत्नी (३) शरणागत (४) वह जीवों

रक्खी हुई चीज (५) बन्धक रक्खी हुई चीज पारमार्थिक लाभ होता है ।

(६) कुलकी वृत्ति (७) आगेके लिये रक्खी हुई चीज (८) स्त्री-धन और (९) पुत्र ।

(१) सत्य (२) शौच (३) अहिंसा

(४) क्षमा (५) दान (६) दया (७)

मनका निग्रह (८) अस्तेय और (९) इन्द्रियोंका निग्रह ।

इनके देनेपर प्रायश्चित्त किये बिना शुद्धि नहीं होती ।

इन दस नवकोंका पालन करनेसे लोक, परलोक दोनों बनते हैं ।

ये नौ नवक अवश्य पालन करने योग्य हैं । इनसे सुख-समृद्धिकी वृद्धि होती है । अब एक नवक और है, जो धर्मरूप है और जिसके पालनसे अत्यन्त

(स्कन्दपुराण-काशीखण्ड, पूर्वार्द्धसे सङ्कलित)



दैनिक कल्याण-सूत्र

१ जुलाई शनिवार—जो भगवान्‌के महत्त्वको जान लेता है, वह तो भगवान्‌को ही भजता है ।

भगवान्‌की इस मधुर वाणीपर ध्यान दो—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वे प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

मैं ही सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ और सारे जगत्‌की चेष्टा मुझसे ही होती है । इस प्रकार जानने-वाले भावुक बुद्धिमान् भक्त मुझको ही भजते हैं ।

२ जुलाई रविवार—भगवान्‌का प्रेमसे भजन करो, फिर अज्ञानका अँधेरा तो भगवान् आप ही मिटा देंगे । उन्होंने घोषणा की है—

तेषामेवानुकम्पार्यमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

भजन करनेवालोंपर अनुग्रह करके मैं स्वयं ही अज्ञान-करणमें स्थित होकर सारे अज्ञानान्धकारको नष्ट कर देता हूँ ।

३ जुलाई सोमवार—भगवान्‌की अनन्त महिमा है, इतना बड़ा संसार तो उनकी महिमाके एक अंशमात्रमें स्थित है । भगवान्‌ने बतलाया है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

अर्जुन ! तुम क्या करोगे बहुत जानकर, इस सारे जगत्‌को मैंने एक अंशमात्रमें धारण कर रक्खा है ।

४ जुलाई मंगलवार—भगवान्‌के दर्शनकी सच्ची उत्सुकता हो तो अर्जुनकी भाँति प्रार्थना करो, वे तुम्हें दर्शन देंगे ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥

हे प्रभो ! यदि आपके मतमें मैं आपका रूप देख सकता हूँ, तो हे योगेश्वर ! अपने अविनाशी स्वरूपके मुझे दर्शन कराइये ।

५ जुलाई बुधवार—भगवान्‌की भक्ति करो, फिर भगवान्‌का ज्ञान और उनके दर्शन दुर्लभ नहीं हैं । भगवान्‌ने स्वयं घोषणा की है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंधिधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार अनन्य भक्तिसे मैं तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ, प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ और मुझमें प्रवेश किया जा सकता है ।

६ जुलाई गुरुवार—अनन्यभक्ति करनेवाले भजनानन्दी भक्त कितने श्रेष्ठ हैं, यह जानना हो तो भगवान्की इस वाणीका स्मरण करो—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

जो भक्त मनको मुझमें लगाकर परम श्रद्धाके साथ नित्य-निरन्तर मुझको भजते हैं, मेरे मतमें वे सर्वश्रेष्ठ योगी हैं ।

७ जुलाई शुक्रवार—संसारसागरसे तरनेकी चिन्ता न करो, भगवान्में मन लगाओ; फिर वे केवट बनकर अपने आप ही पार कर देंगे । उन्होंने पुकारकर कहा है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

हे अर्जुन ! मुझमें चित्तको प्रवेश कर देनेवाले उन भक्तोंको मैं स्वयं बहुत ही शीघ्र मृत्युरूप संसारसागरसे बड़े सुखके साथ पार कर देता हूँ ।

८ जुलाई शनिवार—चिन्ता न करो, अपने-आप ऊपर-को उड़ चलोंगे । भगवान्के इन वचनोंको याद करो—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

मुझमें मन लगाओ, मुझमें ही बुद्धिको लगा दो, फिर निस्सन्देह मुझमें ही निवास करोगे ।

९ जुलाई रविवार—जो भगवान्के प्यारे होते हैं, उनके ये लक्षण हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबके मित्र, दुःखियों-पर दया रखनेवाले, ममता और अहंकारसे रहित, सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सम, अपराध करनेवालेको भी सुख पहुँचानेवाले, सदा सन्तुष्ट, तन, मन, वचनको जीते हुए, मुझमें युक्त हुए, दृढनिश्चयी और मन, बुद्धिको मुझमें अर्पण किये हुए जो भक्त हैं, वे मुझको बहुत प्यारे हैं ।

१० जुलाई सोमवार—भगवान्के प्यारे भक्तके ये लक्षण भी हैं ।

भगवान्ने कहा है—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥

जिससे किसी भी जीवको उद्वेग नहीं होता, जो खय किसी भी जीवसे उद्विग्न नहीं होता और जो हर्ष, डाह, डर और उद्वेग आदिसे रहित है, वह भक्त मुझको प्यारा है ।

११ जुलाई मंगलवार—भक्तोंके और भी लक्षण ये हैं—

अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

जो भक्त किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखता, बाहर-भीतरसे शुद्ध रहता है, मुझे भजने करने-चतुर है, किसीका पक्ष नहीं लेता, किसी-वह जीवों

व्यथित नहीं होता और लौकिक लाभके लिये किसी कार्यका आरम्भ नहीं करता, वह भक्त मुझको बड़ा प्यारा है ।

१२ जुलाई बुधवार—भक्तोंके कुछ और लक्षण—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः समे प्रियः ॥

जो किसी भी लौकिक लाभमें हर्षित नहीं होता, हानिमें द्वेष नहीं करता, किसी भी प्रतिकूल अवस्थामें शोक नहीं करता और अनुकूल अवस्थाकी आकांक्षा नहीं करता तथा शुभाशुभ समी कर्मोंका लौकिक लाभकी दृष्टिसे त्याग कर देता है, वह भक्त मुझको बड़ा प्रिय है ।

१३ जुलाई गुरुवार—भक्तोंके ये लक्षण भी हैं—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥

जो शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सरदी-गरमी, सुख-दुःखादि द्वन्द्व और निन्दा-स्तुतिमें समान भाव रखता है, संसारमें जिसकी कहीं आसक्ति नहीं है, जो मेरे मननमें लगा रहता है, हरेक हालतमें सन्तुष्ट रहता है और अपना घर नहीं बनाता, ऐसा स्थिरबुद्धि भक्त मुझको बड़ा प्रिय है ।

१४ जुलाई शुक्रवार—भगवान्‌के तत्त्वज्ञानको प्राप्त करनेके बीस उपाय हैं, इनपर ध्यान दो । इनमें नौ ये हैं—

चित्त्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।

अखनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥

बड़प्पनका अभिमान न करना, दम्भ न करना, अहिंसा, क्षमा, मन-वचनकी सरलता, गुरुकी श्रद्धापूर्वक सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, स्थिरता और मन, इन्द्रियोंका निग्रह ।

१५ जुलाई शनिवार—तीन उपाय ये हैं—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्य, अहंकारका अभाव, जन्म, मरण, बुढ़ापा और बीमारी आदिके दुःख-दोषोंको बार-बार देखना ।

१६ जुलाई रविवार—तीन उपाय ये हैं—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥

पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका अभाव और अनुकूल तथा प्रतिकूल वस्तुओंकी प्राप्तिमें चित्तका सदा सम रहना ।

१७ जुलाई सोमवार—तीन उपाय ये हैं—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥

भगवान्‌में अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्तदेशका सेवन और जनसमुदायमें अप्रीति ।

१८ जुलाई मंगलवार—दो उपाय ये हैं—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सर्वत्र देखना, यह सब ज्ञान है

और जो इससे विपरीत है, उसे अज्ञान कहा गया है ।

१९ जुलाई बुधवार—भगवान् सर्वत्र हैं, उनकी इस अमर वाणीपर ध्यान दो—

वहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तद्विज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥

वह परमात्मा समस्त चराचर भूतोंके बाहर और भीतर परिपूर्ण है । चराचर भी वही है । परन्तु सूक्ष्म होनेसे जाननेमें नहीं आता । अत्यन्त समीप और बहुत दूर जहाँ देखो, वहीं वह-ही-वह है ।

२० जुलाई गुरुवार—भगवान् ही सब कुछ हैं । उनके इस उपदेशपर ध्यान दो—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥

इस देहमें रहकर भी वह पुरुष मायासे परे है, वही सबका साक्षी है, वही अन्दरसे अनुमति देनेवाला है, वही भरण-पोषण करनेवाला और वही भोक्ता है । वह सबका महान् ईश्वर है और वही सच्चिदानन्दघन परमात्मा कहा जाता है ।

२१ जुलाई शुक्रवार—परमात्मा सबमें रहकर भी लिप्त कैसे नहीं होता—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥

जैसे सर्वत्र व्याप्त आकाश अपनी सूक्ष्मताके कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देहमें सर्वत्र स्थित परमात्मा भी अपनी महिमामें स्थित होनेके कारण लिप्त नहीं होता ।

२२ जुलाई शनिवार—एक ही परमात्मा सबको प्रकाशित कैसे करता है ?

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥

जैसे एक ही सूर्य इस समस्त विश्वको प्रकाशित करता है, वैसे ही एक ही परमात्मा समस्त भूत-जगत्को प्रकाशित करता है ।

२३ जुलाई रविवार—तीनों गुण स्वाभाविक ही नीचेकी ओर चलते हैं; इनसे ऊपर उठनेकी चेष्टा करते रहो, तीनों ही बाँधनेवाले हैं—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥

हे निष्पाप ! उन तीनों गुणोंमें प्रकाशक और विकाररहित सत्त्वगुण निर्मलताके कारण सुख और ज्ञानके सम्बन्धसे बाँधता है ।

२४ जुलाई सोमवार—रजोगुण तो और भी नीचा है और वह कर्मोंकी बेड़ीसे बाँधे रखता है—

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥

हे अर्जुन ! आसक्तिरूप रजोगुण कामना और आसक्तिसे ही उत्पन्न होता है । वह जीवात्माको कर्मोंके और उनके फलोंके सम्बन्धसे बाँधता है ।

२५ जुलाई मंगलवार—तमोगुण तो बन्धनरूप ही है और इसके बन्धन भी बड़े निम्नश्रेणीके और दूषित होते हैं ।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्रामिस्तन्निबध्नाति भारत ॥

हे अर्जुन ! सब देहामिमानियोंको मोहित करने-वाले तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न जानो । वह जीवों

प्रमाद (करनेयोग्य कार्योंके त्याग और न करने-योग्यके ग्रहण), आलस्य और निद्राके द्वारा बाँधता है।

२६ जुलाई बुधवार—तमोगुणको दबाकर रजोगुणको बढ़ाओ और रजोगुणको सत्त्वकी ओर लगाकर सत्त्वगुणमें स्थित हो जाओ और उस सत्त्वको भगवान्‌के अर्पण करके गुणातीत बन जाओ। याद रखो, सबके आश्रयस्थान एकमात्र भगवान्‌ ही हैं। भगवान्‌ने घोषणा की है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

अविनाशी ब्रह्म, अमृत, सनातनधर्म और अखण्ड एकरस आनन्द—इन सबकी प्रतिष्ठा मैं ही हूँ।

२७ जुलाई गुरुवार—भगवान्‌का वह दिव्य धाम अलौकिक है, उसीकी चाह करो। भगवान्‌ कहते हैं—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

उस प्रकाशमय परम धामको सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि प्रकाशित नहीं कर सकते। जिस परमपदको प्राप्त होकर मनुष्य संसारमें वापस नहीं लौटते, वही मेरा परम धाम है।

२८ जुलाई शुक्रवार—भगवान्‌को पुरुषोत्तम जान लो; फिर तुमसे उनका भजन छूटेगा ही नहीं।

भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वही सब कुछ जानता है

और वह सब प्रकारसे मुझको ही भजता है।

२९ जुलाई शनिवार—भगवान्‌के भजनमें सबसे बड़े

बाधक तीन हैं। इनका त्याग कर दो—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

काम, क्रोध और लोभ—ये आत्माकी अधोगति करनेवाले तीन नरकके दरवाजे हैं। अतएव इन तीनोंका त्याग करना चाहिये।

३० जुलाई रविवार—भगवान्‌ तुम्हें बहुत प्यार

करते हैं, उनके विलक्षण प्रेमको देख-सुनकर

सब तरहसे उन्हींके बन जाओ। भगवान्‌ने

बड़े प्रेमसे अर्जुनके प्रति कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

हे अर्जुन ! तुम मुझमें मन लगा लो, मेरे ही भक्त बन जाओ, मेरी ही पूजा करो और मुझको ही नमस्कार करो। मैं सच-सच कहता हूँ, प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, तुम मुझको ही प्राप्त होओगे ! तुम मुझे बड़े प्यारे हो।

३१ जुलाई सोमवार—ऐसे प्यारे भगवान्‌पर अपनेको

न्योछावर कर दो, सब कुछ छोड़कर उनके

आश्रयमें चले जाओ। देखो, वे किस प्रकारका

आश्वासन देते हुए कैसी स्नेहभरी वाणीसे

पुकार-पुकारकर तुम्हें अपनी ओर बुला रहे हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

सब धर्मोंको छोड़कर एक मेरे शरण आ जाओ,

तुम्हें सारे पापोंसे मुक्त मैं कर दूँगा, चिन्ता न करो।

श्रीभरत-महिमा

(लेखक—पं० श्रीगोपीनाथजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

श्रीलक्ष्मणजी इस प्रकार कहते हुए नीति-रस तो भूल गये और वीर-रसका वृक्ष मानो पुलकावलीरूपी पुष्पोसे फूल उठा । उन्होंने और क्या कहा सो सुनिये—

अनुचित नाथ न मानव मोरा । भरत हमहि उपचार न थोरा ॥
कहँ लगी सहिअ रहिअ मनु मारें । नाथ साथ धनु हाथ हमारें ॥

छत्र जाति रघुकुल जनमु राम अनुग जगु जान ।
लतहुँ मारें चढ़ति सिर नीच को धूरि समान ॥

आप कहते हैं कि नीच-से-नीच संसारमें धूल है, वह भी लात मारनेसे सिरपर चढ़ती है तो महाराज हम भरतके हाथसे वैसा अपमान कैसे सहन कर सकते हैं ! हमारे हाथमें भी तो धनुष-बाण हैं । इतना कहते ही—

उठि कर जोरि रजायसु माँगा । मनहुँ वीर रस सोवत जागा ॥
बाँधि जटासिर कसि कटि माथा । साजि सारासनु सायकु हाथा ॥

और बोले—

आजु राम सेवक जसु केऊँ । भरतहि समर सिखावन देऊँ ॥
राम निरादर कर फलु पाई । सोवहुँ समर सेज दोड माई ॥
आइ बना मरु सकल समाजू । प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू ॥
जिमि करि निकर दलह मृगराजू । लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू ॥
तैसेहिं भरतहि सेन समेता । सानुज निदरि निपातउँ खेता ॥
जौ सहाय कर संकर आई । तौ मारउँ रन राम दोहाई ॥

धन्य, धन्य है श्रीगोस्वामीजीकी रचना ! लक्ष्मणजीके इन वचनोंमें कैदा अद्भुत वीररस दिखाया है कि पढ़ते-पढ़ते रोंगटे खड़े हो जाते हैं । लक्ष्मणजीके इन रोषयुक्त वचनोंको सुनकर और उनकी शपथको समझकर समस्त लोक और लोकपाल घबड़ा गये और उन्होंने भड़भड़ाकर भाग जाना चाहा ।

इतनेमें लक्ष्मणजीके भुजबलकी सराहना करती हुई आकाशवाणी हुई कि हे तात ! तुम्हारे प्रताप और प्रभावको कौन कह सकता है और कौन जाननेवाला है !

जो कुछ बुरा-भला काम हो उसे सोच-समझकर करना चाहिये, यही सबका मत है । उतावलीमें झटपट

ऐसा काम कर डालना जिससे पीछे पछताना पड़े, इसे वेद और चतुर पुरुष बुद्धिमानी नहीं कहते ।

यह आकाशवाणी सुनकर लक्ष्मणजी सकुचा गये, तब बड़े आदरके साथ श्रीराम-जानकीजीने उनका सम्मान करके कहा कि हे तात ! तुमने सच कहा, राजपदका मद और नशा सबसे कठिन होता है; परन्तु इस राजमदसे वही लोग मतवाले हो जाते हैं जिन्होंने साधुओंकी सभाका सेवन नहीं किया । अब देखिये मानसकारकी रचनाका चमत्कार कि कैसे प्रभावशाली वचनोंद्वारा श्रीरामजी भरतजीकी महिमाका सार्टीफिकेट देते हैं । श्रीरामजी कहते हैं—

सुनहु लखन मरु भरत सरोसा । बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा ॥

भरतहि होइ न राज महु बिधि हरि हर पद पाइ ।
कबहुँ कि काँजी सीकरन्हि छीरसिंधु बिनसाइ ॥

तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई । गगनु मगन मकु मेघहिं मिलई ॥
गोपद जल बूझिं घटजोनी । सहज लमा बर छड़ै छोनी ॥
मसक फूँक बर मेरु उड़ाई । होइ न नृपमद भरतहि माई ॥
लखन तुम्हार सपथ पितु आना । सुचि सुबंनु नहिं भरत समाना ॥
सगुनु खीर अवगुन जलु ताता । मिलइ रचइ परपंचु बिधाता ॥
भरतु हंस रबिबंस तढ़ागा । जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा ॥
महि गुन पयतजि अवगुन बारी । निज जस जगत कीन्ह उजिआरी ॥
कहत भरत गुन सोलु सुमाऊ । प्रेम पयोधि मगन रघुराऊ ॥

वाह ! वाह ! सच है—

जौ न होत जग जनम भरत को । सकल धरम धुर धरनि धरत को ॥

इधर श्रीरामचन्द्रजीके आश्रममें यह संवाद हो रहा है, उधर भरतजी आकर मन्दाकिनी नदीमें स्नान करते हैं और सारे समाजको नदीपर ही टिका माताजी, गुरुजी और मन्त्रियोंसे आज्ञा लेकर अपने छोटे भाई शत्रुघ्नजी और सखा निषादको रास्ता दिखानेको साथ लेकर वहाँ चले जहाँ श्रीराम-सीताजी विराजमान हैं । श्रीभरतजी अपनी माताका करतब समझकर अति लजित होते हुए करोड़ों कुतर्क मनमें करते हैं कि श्रीराम-जानकीजी

मेरा नाम सुनकर ही उठकर और कहीं न चले दें; माताके मतेमें जानकर जो कुछ करें थोड़ा है, परन्तु अपनी ओर समझकर मेरे पापों और अवगुणोंको क्षमा करके अपना लेंगे; चाहे मुझे मनसे मलीन जानकर त्याग दें चाहे अपना सेवक मानकर आदर करें, मैं तो श्रीरामचन्द्रजीकी ज्ञतियोंकी ही शरण हूँ ! क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी उत्तम स्वामी हैं और सब दोष तो मुझ सेवकका ही है ! फिर केवटने ऊँचाईपर चढ़कर वह बटवृक्ष दिखाया जिसके बीच श्रीगुनायजीकी कुटिया है और तुलसीके सुन्दर पेड़ अनेक प्रकार शोभायमान हैं, जो कोई-कोई तो स्वयं श्रीरामचन्द्रजीके लगाये हैं और कोई श्रीलक्ष्मणजीने रोपे हैं । और उस वृक्षकी छायामें श्रीसीताजीने अपने कमलसमान कोमल हाथोंसे सुन्दर वेदी बनायी है, जहाँ बैठकर श्रीरामजी मुनीश्वरोंकी मण्डलीके साथ बैठकर इतिहास, वेद, पुराण आदि शास्त्र सुनते हैं !

फिर भरतजीकी चाह देखिये—

सखा बचन सुनि बिटप निहारो । उमगे भरत बिलोचन वारी ॥
करत प्रनाम चले दोठ भाई । कहत प्रीति सारद सकुचाई ॥
हरषहिं निरखि राम पद अंका । मानहुँ पारसु पायठ रंका ॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं । रघुवर मिलन सरिस सुख पावहिं ॥

× × × ×

सखहि सनेह निवस मग मूला । कहि सुपथ सुर बरषहिं फूला ॥
निरखि सिद्ध साधक अनुरागे । सहज सनेहु सराहन लागे ॥

इतना लिखकर श्रीमानसकार क्या ही सुन्दर कहते हैं—

होत न मूढक माठ भरत को । अचर सचर चर अचर करत को ॥

श्रीरामचन्द्रजीके पुनीत आश्रममें प्रवेश करते ही सब दुःखकी अग्नि शान्त हो गयी, जैसे योगीको परमार्थप्राप्ति हो गयी हो । दूरसे उन्होंने क्या देखा कि लक्ष्मणजी श्रीरामजीसे कुछ प्रश्न कर रहे हैं और श्रीरामजी उत्तर दे रहे हैं । उनके मस्तकपर जटाजूट है, तनपर मुनियोंके-से वस्त्र हैं, तरकस कसे हुए हैं, हाथमें बाण और कंधेपर धनुष है और वेदीपर मुनीश्वर और साधुओंके समाजमें सीताजीसमेत श्रीरामजी ऐसे विराजमान हैं कि मानो साक्षात् रति और कामदेवने ही मुनियोंका-सा भेष धारण किया हो । उनका इस रूपमें दर्शन करते ही भरतजी अगन-मन होकर सब सुख-बुध भूल गये और—

पाहि नाथ कहि पाहि गोसाई । मूढक परे लकुट की नाई ॥
बचन सपेम लखन पहिचाने । करत प्रनाम भरत जियँ जने ॥

× × × ×

कहत सप्रेम नाइ महि माथा । भरत प्रनाम करत रघुनाथा ॥
उठे रामु सुनि पेम अधीरा । कहूँ पट कहूँ निबंग धनु तीरा ॥

अहा हा ! भरतजीका नाम सुनते ही भगवान् श्रीरामजी प्रेममें ऐसे अधीर होकर उठे कि वस्त्र कहीं, निबंग कहीं, धनुष कहीं और तीर कहीं खिसक पड़े । और क्या किया !

बरवस लिए उठाइ उर लाप कृपानिधान ।

भरत राम का मिलन लखि बिसरे सबहि अपान ॥

श्रीगोस्वामीजी फिर कहते हैं—

मिलन प्रीति किमि जाइ बखानो । कवि कुल अगम करम मन बानी ॥
परम पेम पुरन दोठ भाई । मन बुधि चित अहमिति बिसराई ॥
कहहु सुपेम प्रगट को करई । केहि छाया कवि मति अनुसराई ॥

× × ×

अगम सनेह भरत रघुवर को । जहँ न जाइ मनु निधि हरि हर को ॥
सो मैं कुमति कहाँ केहि भाँती । बाज सुराग कि गौडर तँती ॥

फिर क्या हुआ—

मिलन बिलोकि भरत रघुवर की । सुर गन समय धकधकी धरकी ॥

अर्थात् श्रीरामजी और भरतजीकी ऐसी अगाध प्रीतिकी मिलन देखकर देवतालोग भयभीत हो गये और छाती धक-धक धरकने लगी कि श्रीरामचन्द्रजी उनके प्रेम-संकोचके वश होकर अयोध्या न चले जावें । फिर श्रीसीताजीके कमलसमान चरणोंमें सिर झुकाया । श्रीरामजीने बार-बार प्रणाम करते हुए भरतजीको बलपूर्वक उठाया और उनके सिरपर हाथ फेरकर अपने पास बैठा लिया । श्रीसीताजी भी भरतजीके प्रेममें मग्न हो गयी, उन्हें देहकी सुष-बुध न रही, मन-ही-मन आशीर्वाद दिया । भरतजी उनका भाव भी अपने अनुकूल देखकर शोकरहित हुए और उनके हृदयका अपडर जाता रहा । अब क्या दशा इन सबकी है, वह सुनिये—

कोठ किछु कहइ न कोठ किछु पूँछा । प्रेम मरामनु निज गति दूँछा ॥

अर्थात् सब प्रेममें मग्न अपनी सुष-बुध भूल गये हैं । कोई कहे क्या और पूछे क्या ! ऐसी दशामें केवटको जब कुछ होश आया तब उसने निवेदन किया कि हे नाथ ! मुनिनाथ वशिष्ठजीके साथ सब माताएँ, नगरनिवासी, राजसेवक, सेनापति और मन्त्रीगण भी वियोगसे विकल होकर यहाँ आ गये हैं ।

गुरु महाराजका आगमन सुनते ही श्रीरामचन्द्रजी झट उठ खड़े हुए और लक्ष्मणजीसहित उनकी अगवानीको चले । सीताजीके पास शत्रुघ्नजीको छोड़ भरतजी भी साथ हो लिये । श्रीरामने गुरु महाराजको प्रणाम किया, उन्होंने दौड़कर उनको हृदयसे लगा लिया । फिर क्षणभरमें सबसे (अनेक रूप धारण करके) मिले, जैसे करोड़ों घड़ोंमें सूर्यकी परछाई एक साथ ही पड़ती है । फिर गुरु महाराजसे प्रार्थना की कि चलिye, आश्रमको अपने चरणोंसे पवित्र कीजिये और सब माताओं तथा ब्राह्मण-मंत्रियोंको साथ लेकर आश्रममें पधारें । सीताजीने गुरु महाराजके चरणोंपर गिरकर प्रणाम किया, तथा गुरुपत्नी और ब्राह्मणकी स्त्रियों एवं सब सासुओंको प्रणाम कर आशीर्वाद प्राप्त किया ।

आश्रममें पहुँचकर गुरु महाराजने दशरथजीके स्वर्गवासका समाचार कहा, और अपने वियोग-दुःखके कारण पिताजीकी मृत्यु सुनकर भगवान् बहुत ही विकल हुए और गुरु महाराजकी आज्ञानुसार पिताका तर्पण आदि किया । जब पितृकर्मसे शुद्ध होकर दो-तीन दिन बीते तो श्रीरामजी गुरु महाराजसे कहते हैं कि हे महाराज ! सब लोग कन्द-मूल-फल आहार करते दुखी हो रहे हैं; भाइयों, माताओं और मन्त्री आदिकी यह दशा देखकर मेरा एक-एक दिन युगके समान बीत रहा है, अतः भरतादि सबको साथ लेकर अयोध्या जाइये ?

उधर भरतजीकी यह दशा है कि न दिनको भूख न रातको नींद है, बड़े भारी सोचसे व्याकुल हो तड़फड़ा रहे हैं कि कैसे श्रीरामचन्द्रजीका अयोध्या चलना हो । इसी सोचमें पड़े हैं कि गुरु महाराजने उनकी बुला भेजा और वहाँ सब महाजन, मंत्री आदि एकत्र हो गये । मुनिराजने कहा कि श्रीरामचन्द्रजी स्वतन्त्र भगवान्, सत्यव्रत, पिताके आज्ञापालनमें दृढ़, धर्मका पालन करनेवाले हैं; किस प्रकार उनका अयोध्या चलना हो—सोचकर बताओ, वही किया जावे । किसीको इसका उत्तर देनेकी सामर्थ्य न हुई । उस समय सबकी मौन दशा देखकर श्रीभरतजी हाथ बाँधकर बोले—महाराज ! यह मेरा परम दुर्भाग्य है कि आप मुझसे उपाय पूछते हैं; आप ब्रह्माकी गति, होनहारको भी टाल सकते हैं; आप ही कोई उपाय सींचिये ।

श्रीगुरु महाराज कहते हैं कि क्या कहें, श्रीरामजीकी कृपासे ही सब हो सकता है । एक उपाय समझमें आता है कि तुम दोनों भाई उनके बदले वनमें जाना अङ्गीकार करो और राम-

लक्ष्मणजीको अयोध्या लौटा लें । गुरु महाराजके यह वचन सुनकर भरतजी परम प्रसन्न हो सानन्दसे शरीरमें फूले न समाये । मानसकार लिखते हैं—

मन प्रसन्न तन तेज विराजा । जलु जिय राठ रामु मय राजा ॥

× × × ×

कहिहिं भरतु मुनि कहा सो कीन्हे । फलु जग जीवन्ह अमिमत दोन्हे ॥
कानन करउँ जनम मरि बासू । पदि ते अधिक न मोर सुपासु ॥

फिर क्या हुआ !

भरत बचन सुनि देखि सनेह । समा सहित मुनि मयठ बिदेह ॥
भरत महा महिमा जलरासा । मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी ॥

अहा ! भरतजीका ऐसा स्नेह श्रीरामचन्द्रजीमें देखकर मुनि महाराज सब समासमेत देहकी सुघ-बुघ भूल गये । भरतजीकी महिमा मानो गंभीर समुद्र है और वशिष्ठजीकी बुद्धि उसके तीरपर अबलाकी नाई ठिठककर रह गयी है ।

गा चह पार जतनु दिह्य हेरा । पावति नाव न बोहितु बेरा ॥

उस महिमारूपी समुद्रके पार पानेकी इच्छासे बहुत उपाय किये; परन्तु इसके लिये कोई नाव, जहाज़ या बड़ा नहीं दिखायी दिया । जब साक्षात् वशिष्ठजीकी यह दशा है तो फिर और कौन भरतकी बड़ाई कर सकता है ? भला कहीं सरोवरकी सीपीमें समुद्र समा सकता है ? यह संवाद हो चुकनेके बाद वशिष्ठजी सब समाजको साथ लेकर श्रीरामजीके पास आये । श्रीरामने आदरसहित सबको आसन दिये और मुनीश्वरकी आज्ञा पाकर सारा समाज बैठ गया । उस समय मुनि महाराजने श्रीरामजीसे कहा कि हे राम ! आप सर्वश, सुज्ञान और धर्म, नीति, गुण और ज्ञानके निधान हो; सबके अन्तरमें बसते हो; सबका भाव-कुभाव जानते हो; पुरजन, माता और भरतजीका जिसमें हित हो वही उपाय कीजिये ।

श्रीरामचन्द्रजी उत्तरमें कहते हैं कि हे महाराज ! उपाय तो सब आपहीके हाथ है । आपकी आज्ञा शिरोधार्य है और इसीमें सबकी भलाई है । पहले जो मुझे आज्ञा हो कहिये; फिर धारण करके पालन करूँगा । फिर जिस-जिसको जो-जो उचित समझें आज्ञा दीजिये, वे सब सेवककी नाई उसे मानेंगे ।

वशिष्ठजी कहते हैं कि हे राम, आपने जो कहा सो सच है; पर भरतजीके स्नेहने मेरा विचार नहीं रक्खा, उसकी

भक्तिके वश होकर मेरी बुद्धि भोरी हो गयी है, कुछ नहीं कह सकती; सो मेरे विचारमें भरतजीका विनय आदरसे सुनकर उनकी रचि रखकर जो किया जाय वही अच्छा होगा, श्रीमहादेवजीकी साक्षी रखकर यह प्रार्थना बारंवार करता हूँ ।

श्रीभरतजीपर गुरु महाराजका ऐसा भारी अनुराग देखकर श्रीरामजी अति प्रसन्न हुए और भरतजीको धर्मधुरन्धर और तन-मन-वचनसे अपना आज्ञाकारी जान वशिष्ठजीसे ये सुन्दर और मंगलमय वचन बोले—

नाथ सपथ पितु चरन दोहाई । भयठ न मुवन भरत सम भाई ॥
राख जापर अस अनुराग । को कहि सकइ भरत कर भागू ॥

अपना छोटा भाई है, इस विचारसे उसके मुखपर बड़ाई करनेमें संकोच होता है । हाँ, जो भरत कहें वही करनेमें भलाई है । यह कहकर श्रीरामजी चुप हो गये । यह सुनकर वशिष्ठजी भरतजीसे कहते हैं कि संकोच त्यागकर दया-सागर प्यारे भाई श्रीरामजीसे अपने हृदयकी बात साफ़-साफ़ कह दो ।

श्रीभरतजी यह सुन और श्रीरामजीका रख देख अपने सिरपर सब भार समझ कुछ नहीं कह सकते । फिर विचारकर—
पुरुकि सरीर समौ भय ठाढ़े । नोरज नयन नेह जल वाढ़े ॥

और हाथ जोड़कर अभूतमयी वाणीमें कहते हैं कि मेरा सब कहना तो गुरु महाराजने निभा दिया, इससे अधिक मैं क्या कहूँ । मैं अपने स्वामी श्रीरामचन्द्रजीका स्वभाव जानता हूँ, वे तो अपराधीपर भी कभी क्रोध नहीं करते । आपने बालकपनसे मेरा साथ नहीं छोड़ा और न कभी मेरा मन भंग किया—हर खेलमें मुझे ही जिताया कि मेरा मन दुखी न हो । और मैंने भी इस संकोचसे कभी उनसे आँख उठाकर बात नहीं की, केवल आँखें उनके दर्शनकी प्यासी रही हैं और आजतक उनके दर्शनसे तृप्ति नहीं हुई । पर क्या कहूँ, आज विधाता मेरा यह दुलार न सह सका और माताके बहाने उसने यह अनर्थ कर दिया । यह मेरे ही दुर्मार्ग्यका अथाह समुद्र है । मैं सब ओरसे हार गया हूँ, मुझे केवल एक ही भरोसा है कि एक तो कृपालु गुरु महाराज हैं और उसपर दयावान् स्वामी श्रीसीतारामजी हैं; इससे परिणाम भला प्रतीत होता है । पिताजीका मरण तो प्यारे रामजीके बिछोहसे हुआ और कैकेयी माताकी खोटी बुद्धिका सब संसार साक्षी है । इस दुःखसे और सब माताएँ तथा समस्त

अयोध्यावासी नर-नारी कठिन ज्वरकी आगमें जल रहे हैं । इस सारे अनर्थका मूल मैं ही अभागा हूँ । जिनको देख मार्गके साँप और बिच्छूतक अपने कठिन और तीक्ष्ण विषको त्याग देते हैं, ऐसे राम-लक्ष्मण और जानकी जिस कैकेयीको बुरे लगे उसके पुत्रको छोड़ विधाता ऐसा कठिन दुःख और किसे सहते ।

भरतजीकी यह अति विकलतापूर्ण तथा दुःख, प्रेम और नम्रतासे भरी वाणीकी सुनकर सारी सभा ऐसी हो गयी मानो कमलोंके वनपर पाला पड़ गया हो, और सत्यके सिर सोचसे झुक गये । गुरु महाराजने भरतजीको पुरानी कथाएँ सुनाकर वीरज दिया और श्रीरामचन्द्रजी इस प्रकार मनोहर वचन बोले—

हे प्यारे, मनको उदास मत करो और जीवकी गति ईश्वरके अधीन मानकर धैर्य धरो । हे तात ! तीनों काल और तीनों लोकोंमें जो-जो पुण्यात्मा जन हुए हैं वे सब तुम्हारे नीचे हैं, अर्थात् तुम्हारा दर्जा उनसे बहुत ऊँचा है; मनसे भी तुमपर कुटिलाईका सन्देह करनेसे लोक-परलोक दोनों बिगड़ जायेंगे और—

मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल मार ।

लोक सुजसु परलोक सुख सुमिरत नामु तुम्हार ॥

हे प्यारे ! मैं तुम्हें भलीभाँति जानता हूँ; परन्तु क्या करूँ, मनमें बड़ी दुविधा हो रही है । पिताजीने मुझे वनवास देकर भी अपने सत्यको रक्खा और मेरे स्नेहका प्रण रखते हुए शरीरको त्याग दिया । ऐसे पिताका वचन मेटनेमें बड़ा विषाद होता है, उससे भी बढ़कर तुम्हारा संकोच है । इसपर भी गुरु महाराजने आज्ञा दी है, इसलिये जो कुछ तुम कहो अवश्य वही करनेको मैं तैयार हूँ—

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौ सोइ आजु ।

सत्यसंध रघुवर वचन सुनि मा सुखो समाजु ॥

अर्थात् मन प्रसन्न कर, संकोचको त्याग, जो तुम कहो वही आज करूँ । सत्यप्रतिज्ञा श्रीरामचन्द्रजीके ये वचन सुनकर सब समाज तो सुखी हो गया, पर सब देवताओंसमेत इन्द्र काँप गया कि अब काम बिगड़ना चाहता है—भरतजीके कहनेसे श्रीरामचन्द्रजी लौट जायेंगे, क्योंकि श्रीरामजी तो भक्तोंकी भक्तिके वशमें हैं । सब एक दूसरेके कान लगाकर अपना-अपना माथा धुनते और कहते हैं कि अब तो

देवताओंका काम भरतजीके हाथमें है। ऐसी दशामें और कोई उपाय नहीं सृजता; सब कोई मन-ही-मन श्रीभरतजीकी शरण जाओ और उनका ही स्मरण करो, इसीसे उद्धार होगा। इस विचारको जान देवताओंके गुरु बृहस्पतिजीने देवताओंसे कहा कि तुम्हारा अहोभाग्य है कि भरतजीकी भक्ति तुम्हारे मनमें आयी—उनके चरणोंका अनुराग सब आनन्द-संगलकी जड़ है। हे देवताओ ! भरतजीका प्रभाव देखा, जिनके सहज स्वभावके वशमें स्वयं भीरामचन्द्रजी हो रहे हैं ! मनको स्थिर करो, भरतजीको भीरामचन्द्रजीकी परछाईं समझो, डरो मत ।

अब भरतजीकी दशा सुनिये—

जब भरतजीने अपने ही सिरपर सारा भार जाना और देखा कि श्रीरामचन्द्रजी जो कुछ वे कहेंगे करनेको तैयार हैं तो उन्होंने मनमें करोड़ों अनुमान करके यही स्थिर किया कि जब श्रीरामचन्द्रजीने अपना प्रण त्याग मेरा प्रण रक्खा है और ऐसा भारी प्रेम और स्नेह किया है तो उन्हींकी आज्ञाका पालन करनेमें मेरा भला है। सेवकका धर्म तो स्वामीके आज्ञापालनमें ही है, जो सेवक स्वामीको संकोचमें डालकर अपना काम निकालना चाहता है उसकी बुद्धि नीच है। ऐसा सोचकर वे हाथ जोड़कर निवेदन करते हैं कि हे स्वामी कृपानिधान ! अब कृपा कर वही कीजिये जिससे मुझ सेवकका भला हो और प्रभुके हृदयमें संकोच न हो। सेवकका भला तो इसीमें है कि अपने सब सुख और लोभको त्यागकर स्वामीकी सेवा करे। सबका स्वार्थ तो स्वामीके लौट चलनेमें ही है, परन्तु आपकी आज्ञा पालनेसे करोड़ों प्रकारकी भलाई है—इसीमें सब स्वार्थ और परमार्थका सार है और यही सब पुराणोंका फल और सुन्दर गतिका शृंगार है। हे महाराज ! एक मेरी विनती सुन लीजिये, फिर जैसा उचित हो कीजिये। मैं राजतिलककी सब सामग्री साथ लेकर आया हूँ, मनमें जँचे तो उसे सफल कीजिये। छोटे भाई शत्रुघ्नके सहित मुझे वनको भेज सबको सनाथ कीजिये; नहीं तो लक्ष्मण-शत्रुघ्नको वापिस भेज दीजिये, मैं आपके साथ चलाँगा—

सालुज पठइअ मोहि बन कीजिय सबहि सनाथ ।

नतर फेरिअहि बंधु दोठ नाथ चलों मैं साथ ॥

नतर जाहि बन तीनित भाई । बहुरिअ सीय सहित रघुराई ॥
जेहि विधि प्रभु प्रसन्न मन होई । करुनासागर कीजिय सोई ॥

देवें दीन्ह सब मोहि अमाल । मोरें नीति न घरम विचार ॥
कहउँ वचन सब स्तारय हेतू । रहत न आरत के चित चेतू ॥
उतर देइ सुनि स्वामि रजाई । सो सेवकु लखि लाज लजाई ॥

X X X X

अब कृपाल मोहि सो मत मावा । सकुच स्वामि मन जाइ न पावा ॥

X X X X

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देव ।

सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरोह ॥

भरतजीके ऐसे पवित्र वचन सुनकर देवता लोग अति प्रसन्न हो-होकर और भरतजीको 'धन्य-धन्य' कहते हुए फूल बरसाने लगे। अयोध्यावासी दुविधाके वश हो गये और तपस्वी वनवासी लोग बहुत प्रसन्न हो गये कि श्रीरामजीके वनमें ही रहनेकी संभावना है ! श्रीरामचन्द्रजी संकोचवश चुप रह गये कि क्या उत्तर दें। इतनेमें ही जनकजीके आनेका समाचार मिला और सारा समाज उनके स्वागतको उठ गया। यह संवाद यहाँ-का-यहाँ रश।

तदनन्तर महाराज जनकजी सारे समाजसहित चित्रकूटमें पहुँचते हैं। वहाँ जनकजीका रनवास श्रीभीताजी तथा उनकी ससुओंसे मिलनेको जाता है, तब अवध और मिथिलाकी रानियोंमें बात-चीत होती है और श्रीकौसल्याजी इन शब्दोंमें भरतजीकी महिमाका बखान करती हैं—

लखनु रामु सिय जाहुँ बन मरु परिनाम न पोचु ।

गहवरि हियँ कह कौसिला मोहि भरत कर सोचु ॥

और क्या कहती हैं—

राम सपथ मैं कीन्हि न काळ । सो करि कहउँ सखी सतिमाऊ ॥
भरत सीलु गुन बिनय बड़ाई । माथप मगति मरोस मलाई ॥
कहत सारदहु कर मति होचे । सागर सोप कि जाहि उलीचे ॥
जानउँ सदा भरत कुलदीपा । बार बार मोहि कहेउ महीरा ॥
कसे कनकु मनि पारिखि पाएँ । पुरुष परिखिअहिँ समय सुभाएँ ॥

इतना कहकर कौसल्याजी जनकरानी सुनयनाजीसे प्रार्थना करती हैं कि हे रानी ! राजा जनकजीसे समय पाकर अपनी ओरसे समझाकर कहना कि यदि राजाका मन मान जावे तो लक्ष्मणजीको रख लें और भरतजी रामजीके साथ रहें। क्योंकि मुझे भरतजीकी बड़ी चिन्ता है—भरतजीके मनमें बड़ा गहरा स्नेह श्रीरामजीका है, उनके कियोगमें कुछ अनर्थ न हो जावे। यह सब सुनकर विदेह-

रानी विदा होती हैं और अपने डेरेपर आकर एकान्तमें जनकजीसे कौसल्याजीकी वाणी और भरतजीकी महिमाका बखान करती हैं। उस समय जनक महाराज—

सुनि भूषल भरत व्यवहारू । सोन सुगंध सुधा ससि चारू ॥
नूदे सज्जन नयन पुरुके तन । सुजसु सराहन लगे मुदित मन ॥

और कहते हैं—

सावधान सुनु सुमुखि सुज्ञोचनि । भरत कथा भव बंध विमोचनि ॥
धरम राजनय ब्रह्म विचारू । इहाँ जयामति मोर प्रचारू ॥
सो मति मोरि भरत महिनाही । कहे काह छलि छुअति न छाँही ॥

अहा ! महाराज विदेह ऐसे ज्ञानी अपने मुखसे कह रहे हैं कि धर्म, राजनीति, ब्रह्मविचारतक मेरी बुद्धिकी पहुँच है। पर मेरी ऐसी बुद्धि भरतजीकी महिमाका वर्णन करना तो एक ओर रहा, किसी छलसे उसकी छायाको भी छूतक नहीं सकती। क्या गोस्वामीजीने जनकराजके मुखसे भरतजीकी महिमा दिखायी है ?

फिर जनकजी क्या कहते हैं—

निर्वृद्धि गुन निरुपम पुरुषु भरतु भरतसम जानि ।
कहिअ सुमेरु कि तेर सम कवि कुल मति सकुचानि ॥

× × × ×

भरत अमित महिमा सुनु रानी । जानहिं रानु न सकहिं बखानो ॥
नरनि सप्रेम भरत अनुभाऊ । तिय जिय की कधि लखि कह राज ॥
बहुरहिं लखनु भरतु बन जाहीं । सब कर नरु सबके मन माहीं ॥

जनकजी कहते हैं कि मित्रके गुणोंकी सीमा नहीं और मित्रकी उपमाका कोई पुरुष नहीं है, ऐसे भरतजीको भरतजीके ही समान जानकर और किसीकी उपमा उनके साथ देनेमें कवियोंकी बुद्धि ऐसे सकुचायी कि जैसे कोई सुमेरु पर्वतको तौलनेमें एक सेरके बराबर कहनेमें सकुचावे। हे रानी ! सुनो, भरतजीकी महिमा श्रीरामचन्द्रजी तो अवश्य जानते हैं; पर वे भी उसका वर्णन नहीं कर सकते। लक्ष्मणजी लौट जायँ और भरतजी श्रीरामजीके साथमें रहें, इसमें मलाई तो अवश्य है—

देवि परंतु भरत रघुबर की । प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी ॥
परमारथ स्वारथ सुख सारे । भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे ॥
साधन सिद्धि राम पग नेह । मोहि लखि परत भरत मत पहुँ ॥

मोरेहुँ भरत न पेड़िहहिं मनसहुँ राम रजाइ ।

करिअ न सोचु सनेह बस कहेट मूप बिऊखाइ ॥

इसके अनन्तर कुछ दिन बीत जानेपर श्रीरामजी फिर गुरु वशिष्ठजीके पास जाकर प्रार्थना करते हैं कि हे स्वामी ! भरत, सब नगरनिवासी, सब माताएँ शोकसे व्याकुल और वनमें रहनेसे दुखी हो रही हैं और सारे समाजसमेत राजा जनकजीको भी दुःख सहते हुए बहुत दिन हो गये, जो मुझसे देखा नहीं जाता। इसका जो उचित हो उपाय कीजिये, सबका भला आपहीके हाथमें है। वशिष्ठजी उनके शील-सङ्कोचकी बड़ाई करके श्रीरामजीको अपने आश्रमको भेजकर आप जनकजीके पास जाते हैं, उनको श्रीरामजीके वचन सुनाते हैं। जनकराजजी सोचमें पड़कर वशिष्ठजीके साथ भरतजीके पास जाते हैं, भरतजी आगे आकर उनका स्वागत करते हैं। राजा जनक भरतजीसे कहते हैं कि हे तात ! श्रीरामचन्द्रजी सत्यव्रती हैं, धर्ममें रत रहते हैं, सबके शील-सङ्कोचसे कष्ट उठा रहे हैं, ऐसी दशामें हमलोग क्या करें सो कहो।

भरतजी पुलकायमान होकर, नेत्रोंमें जल भरकर, बड़ा धीरज धरकर कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी हमारे प्यारे हैं, आप पिताके समान पूज्य हैं और कुलगुरु वशिष्ठजी माता-पितासे भी बढ़कर हितकारी हैं। विश्वामित्र आदि सब ऋषि भी विराजमान हैं और आप स्वयं शानके समुद्र हैं। ऐसी दशामें मैं क्या कह सकता हूँ ? मैं तो श्रीरामजीका सेवक हूँ और सेवकका धर्म संसारमें सबसे कठिन है। इसलिये धर्मव्रती श्रीरामजीका बख देखकर, मुझको पराधीन जान जो सबकी सम्मति हो और जिसमें सबका भला हो, स्नेह पहचानकर वही कीजिये; मैं तो एक शिशु सेवकके समान आशकारी हूँ।

भरतजीके ये वचन सुनकर, जो अति कोमल और मधुर हैं और थोड़े-से अक्षरोंमें जिनमें बहुत गम्भीर भाव भरा है, भरतजीको साथ ले सारा-का-सारा समाज श्रीरामजीके पास चल दिया। सबको राम-प्रेमसे पूर्ण और विशेषकर भरतजीको राम-भक्तिमें तन्मय देख फिर देवताओंमें हड़बड़ी और महान् चिन्ता हुई और इन्द्र घबड़ाये कि श्रीरामजी महासङ्कोची स्वामी और भक्तिके वश हैं, अतः काम धिगड़ा ही चाहता है और बड़ी दीनतासे सरस्वतीका स्मरण किया और उनसे प्रार्थना की कि अपनी माया करके भरतजीकी मतिको किसी प्रकार फेर दें। सरस्वतीजी इन्द्रादि देवताओंको महामूर्ख और स्वार्थी जान ताड़नापूर्वक बोलीं—

मो सन कहहु भरत मति फेरु । लोचन सहस न सूझ सुमेरु ॥

विधि हरि हर माया बड़ि मारी । सोउ न भरतमति सकइ निहारी ॥
 सो मति मोहि कहत कय मारी । चंदिनि कर कि चंडकर चोरी ॥
 भरत हृदयँ सिय राम निवासू । तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू ॥
 अस कहि सारद गइ विधि लोका । विबुध बिकल निसि मानहुँ कोका ॥

धन्य है श्रीभरतजीकी अगाध महिमा कि सरस्वती भी हार खानकर और यह कहकर कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सबकी भारी भाया मिलकर भी भरतजीकी मतिको फेरना तो क्या, उसकी ओर देख भी नहीं सकती, ब्रह्मलोकको चला दी और देवतालोक निराश होकर प्रपञ्च रचनेपर उतारू हो गये और यही सोच रहे हैं कि सारी बात अब भरतजीके हाथमें है ।

जनकजीके सारे समाजके साथ श्रीरामजीके पास पहुँचकर वशिष्ठजीने सारा संवाद और भरतजीकी वाणी श्रीरामजीसे वर्णन कर कहा कि हे रामजी ! मेरी भी यही अनुमति है कि तुम जैसी आज्ञा दो वैसा किया जावे । श्रीरामजी यह सुनकर हाथ जोड़कर बोले कि साक्षात् आपकी और राजा जनकजीकी उपस्थितिमें मेरा कुछ कहना सर्वथा अनुचित है; जैसी आपकी और मिथिलापतिकी आज्ञा होगी मुझे आपकी सौगंद है कि मैं वही सिरपर धारणकर कहूँगा । श्रीरामजीका यह शपथ सुनकर गुरु वशिष्ठजी और राजा जनकजी खुश हुए, किसीसे कुछ उत्तर देते न बना और सब भरतजीकी ओर देखने लगे कि यही कुछ कहें ।

भरतजी यह दशा सबकी देख सबको हाथ जोड़ प्रणाम करते हुए गद्गद वचन इस प्रकार बोले कि हे स्वामी ! मैं क्या करूँ ? आप समर्थ, शरणागतका पालन करनेवाले, गुणग्राहक और सब अवगुण और पापोंका नाश करनेवाले हैं । हे महाराज ! आप-सरीखे स्वामी आप ही हैं और स्वामीकी शपथ लेकर कहता हूँ कि मेरे-जैसा अयोग्य भी मैं हो हूँ । मैंने इतनी बड़ी ठीठता की कि आपकी आज्ञा बिना लिये ही यहाँ चला आया, किन्तु आपने इसपर भी मेरा दुलार रक्खा । आपकी आज्ञा मेटनेवाला संसारमें कहीं भी कोई नहीं हो सकता । इसलिये आपकी आज्ञा पालनेसे बढ़कर और कोई सेवा नहीं हो सकती—वही आज्ञारूप प्रसाद मुझ सेवकको मिले । भरतजी यह कहकर प्रेमके वश विवश हो गये । शरीरसे पुलकायमान और आँखोंमें आँसू भरे हुए उन्होंने अकुलाकर श्रीरामजीके पैर पकड़ लिये, उस स्नेहकी दशाका वर्णन असम्भव है ।

कृपासिन्धु भगवान् श्रीरामजीने उनका बड़ा मारी आदर-सम्मान करके उनका हाथ पकड़कर अपने पास बैठा लिया और भरतजीकी विपत्ति और प्रेम देख सारी सभा रामजीसमेत प्रेमवश शिथिल हो गयी ।

इस अवसरका बखान करते हुए मानसकार श्रीगोस्वामीजी वर्णन करते हैं कि श्रीभरतजीकी नित्यकी प्रीति, नम्रता और बढ़ाई सुननेमें परम सुख देनेवाली और वर्णन करनेमें महा कठिन है । जिनकी भक्तिके खल्लेखको देखकर सब सुनीश्वर, गुरु वशिष्ठ और राजा जनक-जैसे शानी भी प्रेममें मग्न हो गये उन भरतजीकी महिमाका कोई कैसे वर्णन करे । गोस्वामीजी कहते हैं कि उन्हींकी भक्तिके प्रभावसे तो मेरे हृदयमें सुबुद्धि उत्पन्न हुई—

भरत विमल जसु विमल विधु सुमति चकोर कुमारी ।
 उदित विमल जन हृदय नम एकटक रही निहारि ॥

श्रीभरतजीकी ऐसी प्रार्थना सुनकर श्रीरामजीके मुखारविन्दसे मानसकार, देखिये, क्या अमृतमय वचन श्रीभरतजीकी महिमामें कहलाते हैं—

तात भरत तुम्ह धरम धुरोना । लोक वेद विधि परम प्रवीना ॥

करम वचन मानस विमल तुम्ह समान तुम्ह तात ।

गुर समाज लघु बंधु गुन कुसमयँ किमि कहि जात ॥

फिर श्रीरामजी ऐसी अपूर्व प्रशंसा करके कहते हैं—

जानहु तात तरनि कुल रीती । सत्यसंध पितु कीरति प्रीती ॥
 समठ समजु लाज गुरजन की । उदासीन हित अनहित मनकी ॥
 तुम्हहि विदित सबहा कर करमू । आपन मोर परम हित वरमू ॥
 मोहि सब भौति भरोस तुम्हारा । तदपि कहउँ अवसर अनुसारा ॥

× × ×

राजकाज सब लाज पति धरम धरनि धन धाम ।

गुर प्रमाठ पालिहि सबहि मल होहि परिनाम ॥

सहित समाज तुम्हारे हमारा । धर वन गुर प्रसाद रखवारा ॥
 मातु पिता गुर स्वामि निदेसू । सकल धरम धरनीवर सेसू ॥
 सो तुम्ह करहु कराबहु मोहू । तात तरनि कुल पालक होहू ॥

× × × ×

सो विचारि सहि संकटु मारो । करहु प्रजा परिबाध सुखारी ॥
 बाँटी विपत्ति सबहिं मोहि भाई । तुम्हहि अवधि मरि नति कठिनाई ॥
 जानि तुम्हहि मृदु कहउँ कठोरा । कुसमयँ तात न अनुचित मोरा ॥
 होहिं कुठायँ सुबंधु सहाय । ओझिअहिं हाथ असनिहु के घाय ॥

स्वामिमक्त श्रीभरतजीने परम सन्तोषपूर्वक श्रीस्वामी रामजीकी आज्ञाको शिरोधार्य कर लिया । श्रीमानसकार कहते हैं—

धन्य भरत जय राम गोसाईं । कहत देव हरषित बरिआई ॥
मुनि मिथिलेस समों सब काहू । भरत बचन सुनि भयउ उछाहू ॥
भरत राम गुन ग्राम सनेहू । पुलकि प्रसंसत राउ बिदेहू ॥
सेवक स्वामि सुभाउ सुहावन । नेमु पेमु अति पावन पावन ॥

× × × ×

एक कहहिं रघुवीर बड़ाई । एक सराहत भरत मलाई ॥

फिर श्रीरामजीकी आज्ञा लेकर अभिषेकके लिये साथ लाया हुआ सब तीर्थोंका जल अगाध पवित्र कूपमें डालकर, पाँच दिनमें चित्रकूटके सब तीर्थस्थल देखकर श्रीभरतजी रामजीसे विदा माँगते हैं और कोई अवलम्ब माँगते हैं कि जिसके भरोसे वे चौदह वर्षकी अवधि पूरी कर सकें । श्रीरामजी विवश होकर अपनी खड़ाऊँ उन्हें देते हैं, जिन्हें भरतजी अपने सिरपर रख लेते हैं । भरतजी यह खड़ाऊँका सहारा पाकर ऐसे प्रसन्न होते हैं मानो उन्होंने श्रीरामजी और सीताजीको साथ ले लिया हो ।

जब विदा होते समय श्रीरामजी प्यारे भरतजीसे भुजा भरकर मिलते और छातीसे लगाते हैं तो उस खेहका रस वर्णन नहीं हो सकता । श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

तन मन बचन उमग अनुरागा । धीर धुरंधर धीरजु त्यागा ॥

× × × ×

मुनि गन गुर धुर धीर जनक से । ग्यान अनल मन कसैं कनक से ॥
ये विरंचि निरलेप उपाए । पदुम पत्र जिमि जग जल जाए ॥

तेउ बिलोकि रघुवर भरत प्रीति अनूप अपार ।

मप मगन मन तन बचन सहित विराग विचार ॥

जहाँ जनक गुर गति मति भोरी । प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी ॥

अब भरतजीने अयोध्यापुरीमें आकर प्रजागण आदि सबको बुलाकर, सबका समाधान कर उनको अच्छी भाँतिसे बसाया और सब माताओंकी सेवा शत्रुघ्नजीको सौंपकर आप गुरु वशिष्ठजीके घरपर गये । और उनकी आज्ञा पाकर—

मुनि सिख पाइ असीस बड़ि गनक बोलि दिनु साधि ।

सिंघासन प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि ॥

और फिर क्या किया—

राम मातु गुर पद सिरु नाई । प्रभु पद पीठ रजायसु पाई ॥
नंदिगावैं करि परन कुटोरा । कीन्ह निवासु घरम धुर धीरा ॥
जटा जूट सिर मुनि पट धारो । महि खनि कुस सौँथरी सैवारी ॥

असन बसन वासन व्रत नेमा । करत कठिन रिपि धरम सप्रेमा ॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी । मन तन बचन तजे तिन तूरी ॥
अवध राजु सुरराजु सिद्दाई । दसरथ धनु सुनि धनहु लजाई ॥
तेहिं पुर वसत भरत बिनु रागा । चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥
रमा बिलासु राम अनुरागी । तजत वमन जिमि जन बड़भागी ॥

× × × ×

देह दिनहुँ दिन दूबरि होई । घटइ तेजु बलु मुख छवि सोई ॥
नित नव राम प्रेम पनु पीना । बढ़त धरम बलु मनु न मलीना ॥

× × × ×

भरत रहनि समुझनि करतूती । भगति विरति गुन विमल बिभूती ॥
वरनत सकल सुकवि सकुचाहीं । सेस गनेस गिरा भु नहाँ ॥

नित पूजत प्रभु पौवरी प्रीति न हृदयै समाति ।

मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति ॥

पुलक गात हियै सिय रघुवीर । जोह नामु जप लोचन नीरू ॥
लखन राम सिय कानन बसहीं । भरतु भवन बसि तपतनु कसहीं ॥
दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू । सब विधि भरत सराहन जोगू ॥
सुनि व्रत नेम साधु सकुचाहीं । देखि दसा मुनिराज लजाहीं ॥
परम पुनोत भरत आचरनू । मधुर मंजु मुद मंगळ करनू ॥
हरन कठिन कलि ककुष कलेसू । महामोह निंसि दलन दिनेसू ॥
जन रंजन मंजन भव मारू । राम सनेह सुवाकार सारू ॥

इस प्रसंगके अन्तमें श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी यह छन्द लिखकर अपनी भक्ति और भरतजीकी महिमाका परिचय देकर अयोध्याकाण्डको समाप्त करते हैं—

सिय राम प्रेम पियूष पून होत जनमु न भरत को ।

मुनि मन अगम जम नियम सम दम विषम व्रत आचरत को ॥

दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को ।

कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को ॥

श्रीभरतजीकी अगाध महिमाका कोई पारावार नहीं है । जब हनुमान्जी संजीवनवट्टीका पर्वत लिये भरतजीके दर्शन करते हैं और फिर श्रीरामचन्द्रजीके कुशलसे लौटनेका समाचार लेकर भरतजीकी दशा देखते हैं और फिर भरतजी विमानसे उतरते हुए रामजीसे जब मिलते हैं, इन सभी प्रसंगोंमें उनकी महिमा प्रकट है । पाठक इन प्रसंगोंका स्वयं पाठ करें । अब मैं यहाँ अपनी लेखनीको विश्राम देता हूँ और उतने समयको धन्य मानता हूँ जो भरतजीके परम पुनीत आचरणकी महिमाके वर्णनमें व्यय हुआ और प्रार्थना करता हूँ कि जन्म-जन्मान्तरमें मुझ दीन-मलीनको भी श्रीभरतजीकी प्रेम-भक्तिका लवलेशमात्र प्राप्त हो ।

नाम-जपकी साधना

(लेखक—स्वामीजी श्रीतपस्यानन्दजी महाराज)

जप किसे कहते हैं ?

‘जप’ का धात्वर्थ है हृदयमें भगवान्का नाम लेना । जपमें किसी मन्त्रको या नामको उसके अर्थकी भावना करते हुए बारंबार भीतर-ही-भीतर दुहराया जाता है । स्फुट वाणीसे कुछ नहीं कहा जाता । जपका वास्तविक स्वरूप यही है । परन्तु व्यवहारमें इसके दो रूप और भी प्रचलित हो गये हैं, अधिकार-भेदसे । मन्त्र या नामका उच्चारण जीभ और होठके द्वारा इस प्रकार भी किया जा सकता है जिसमें जप करनेवाला उसे सुनता रहे, और कोई न सुने । जप करनेकी एक विधि यह भी है कि वाणीद्वारा स्पष्टरूपसे नाम या मन्त्रका उच्चारण किया जाय, जिसमें और लोग भी उसे सुन सकें । परन्तु जपमें और प्रार्थना-स्तुतिमें बड़ा अन्तर है । जपमें मन्त्र या नाम छोटा-सा होता है और उसीकी लगातार आवृत्ति की जाती है तथा यह कार्य व्यक्तिगतरूपसे ही होता है, सामूहिकरूपमें नहीं । जपमें मुख्य बात नाम या मन्त्रकी लगातार आवृत्ति ही है, इसीलिये प्रणाली यह है कि अँगुलियों-पर या मालापर जपकी संख्या रक्खी जाती है ।

संसारके प्रायः सभी मुख्य धर्मोंमें जपकी प्रथा प्रधान एवं व्यापक रूपसे चली आयी है । जो धर्म जितने गहरे तथा गम्भीर हैं, उनमें जपकी महत्ता उतनी ही अधिक स्वीकार की गयी है । प्रत्येक आस्तिक रोमन कैथलिक मालाका व्यवहार करता है । यही बात मुसलमानोंके साथ है । वे भी तसबीह (माला) रखते और जप करते हैं । बौद्ध तथा हिन्दूधर्ममें तो, जहाँ धार्मिक क्रिया-कलापका इतना विस्तार है, प्रायः प्रत्येक साधनामें जप एक मुख्य अंग हो गया है । इस प्रकार यह बात अत्यन्त स्पष्ट

है कि संसारके प्रायः सभी धर्मोंमें एकमतसे आध्यात्मिक उत्थान एवं विकासके लिये जपकी उपयोगिताको स्वीकार किया है और उसे बहुत ऊँचा स्थान दिया है ।

जपका मनोवैज्ञानिक रहस्य

यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं कि साधनरूपमें जपका महत्त्व इसी कारण इतना अधिक है कि इसके द्वारा चित्तकी वृत्तियोंको एकाग्र कर ध्येय वस्तुपर ठहरानेमें बड़ी मदद मिलती है । चित्तको एकाग्र करनेकी इस क्रियामें दो बातें होती हैं । पहली बात तो यह होती है कि साधकको अपना चित्त समस्त बाह्य पदार्थोंसे हटाना पड़ता है और फिर जब चारों ओरसे हटकर उसकी चित्तवृत्तियाँ एकाग्र हो जाती हैं तो साधक उन्हींको अपना लक्ष्य बनाकर इस प्रकार चेतनाके रहस्यको समझनेकी चेष्टा करता है । जपके मनोवैज्ञानिक महत्त्वको ठीक-ठीक हृदयङ्गम करनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक ऊपर बतायी हुई प्रक्रियाकी विशिष्ट कठिनाइयोंपर ध्यान दे । बाहरके किसी पदार्थपर चित्तको एकाग्र करना आसान है । यदि मनुष्यकी ज्ञातव्य विषयमें थोड़ी भी रुचि है तो उस विषयकी स्थिरता तथा उसका निश्चित आकार-प्रकार स्वयं ही उसके मनको भागनेसे रोककर उसीपर स्थिर करनेमें सहायक होगा । इसके अतिरिक्त जब हम किसी बाह्य पदार्थपर चित्तको जमाते हैं तो मन उतने समयके लिये अपने स्वरूपका लक्ष्य छोड़ देता है और अपनेको एक बाह्य एवं स्थूल सौँचेमें ढालकर तदाकार बन जाता है ।

परन्तु बाह्य पदार्थोंसे चित्तको हटाकर जब हम अपने भीतर ले जाकर उसे टिकाना चाहते हैं तो उस

समय बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ता है; क्योंकि भीतरमें न तो वैसी कोई मूर्ति ही है, न आकृति ही, जहाँ चित्तको ठहरनेका आधार मिले और जहाँसे चित्त भाग न सके । साधक जैसे ही अपनी इन्द्रियोंको बाह्य वस्तुओंसे हटाकर मनको ढीला छोड़ देता है तथा निर्विषय करनेकी चेष्टा करता है— जो मनको अन्तर्मुखी करनेकी प्रथम सीढ़ियाँ हैं—तो उस समय मनकी तरलता इतने विकटरूपमें सामने आने लगती है कि साधक उसे देखकर घबड़ा उठता है । ऐसी अवस्थामें होता क्या है कि साधकके चित्त-रूपी पर्देपर ऐसे-ऐसे चित्र, ऐसी-ऐसी स्मृतियाँ, जो किसी बाह्य वस्तुके चिन्तनमें उसे कभी नहीं सतातीं, सिनेमाकी फिल्मकी तरह बड़ी तेजीसे 'दौड़ने' लगती हैं, और उसका चित्त, जिसने अभी आत्म-निरीक्षणका अभ्यास प्रारम्भ किया होता है, उधरसे बलात् खींचा जाकर नाना प्रकारकी अतीत स्मृतियों एवं चित्र-विविध कल्पनाओंके जालमें फँस जाता है । फिर मन समग्ररूपसे चित्र बनानेके काममें ही लग जाता है । मनकी ऐसी ही अवस्थाको लक्ष्यमें रखते हुए अर्जुनने भगवान्से कहा था—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

‘हे कृष्ण ! यह मन बड़ा चञ्चल और प्रमथन स्वभाववाला है, बड़ा ही दृढ़ और बलवान् है । इसलिये उसको वशमें करना मैं वायुको वशमें करनेकी भाँति अति दुष्कर मानता हूँ ।’

ऐसी स्थितिमें यदि साधक आत्मनिरीक्षण तथा ध्यानका अभ्यास करना चाहे तो उसके लिये केवल दो ही मार्ग रह जाते हैं । एक तो यह कि उसका मन अपने ही संकल्प-विकल्पका द्रष्टा बनकर अपनी ही लीलाओंको देखते रहनेका अभ्यास करे, अर्थात् अपने भीतर जो चित्र, संकल्प या मूर्तियाँ खड़ी

होती हों उन्हें तटस्थ होकर केवल देखा भर करे । परन्तु इसमें बड़ा खतरा यह है कि द्रष्टा अपने स्थानसे भ्रष्ट होकर दृश्यमें ही जा मिले । क्योंकि मनके रचे हुए चित्रों और संकल्प-विकल्पोंमें इतना मादक आकर्षण रहता है कि उन्हें अलगसे देखते रहना और उनमें लुभा न जाना कठिन है । अथवा वह एक थके हुए संतरीकी तरह निद्रासे अभिभूत होकर सो जायगा । ये ही दो खतरे इस साधनामें हैं । यदि कोई साधक पूरी सावचेतीके साथ इन दोनों प्रत्यवायोंको जीत सके और अन्ततः दर्शककी भाँति तटस्थ बना रहे तो मनकी उछल-कूद शीघ्र ही बंद हो जायगी और ध्यानकी प्रगाढ़ स्थिति शीघ्र ही प्राप्त हो जायगी ।

परन्तु जो व्यक्ति ध्यानकी इस प्रक्रियाको कठिन अथवा असम्भव मानता है, उसे नाम-जपके द्वारा ही चित्तकी एकाग्रता तथा ध्यानका अभ्यास करना होगा । यहाँ हम नामकी रसात्मक अनुभूतिकी चर्चा न कर केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे ही नामकी साधनापर विचार करेंगे, जिसमें यह प्रकट हो जाय कि नाम-जपकी साधनासे किस प्रकार आत्म-निरीक्षण एवं मनकी सतर्कतामें सहायता मिलती है । सबसे पहली और मुख्य बात तो यह है कि अर्थकी भावनाके साथ जब नाम-जप किया जाता है तो चित्तकी गतिके लिये एक निश्चित मार्ग तैयार हो जाता है और टिकावके लिये उसे एक सहारा मिल जाता है, जिससे मन इधर-उधर भागने अथवा नाना प्रकारके संकल्प-विकल्प करनेसे बचा रहता है । घोड़ेको जब सधाते हैं तो उसकी आँखोंके दोनों ओर आड़ कर देते हैं, जिसमें वह केवल सामने देख पाता है, इधर-उधर नहीं ताक सकता । ठीक इसी प्रकार मनकी सारी गतिको एक ही दिशामें मोड़कर उसे साधा जाता है । इसके अतिरिक्त यदि मन अपनी व्यर्थ वस्तुसे हटकर

इधर-उधर भटकने भी लगे तो लगातार नाम-जप करते रहनेसे किसी-न-किसी क्षण उसकी स्मृति होगी ही। उस समय मनको एक झटका-सा लगेगा और फिर वह अपने निश्चित मार्गपर चलने लगेगा, जिसपर हम उसे चलाना चाहते हैं। इस प्रकार मनकी लगामको बार-बार खींचनेसे उसकी चञ्चलता धीरे-धीरे कम हो जाती है और वह ठीक रास्तेपर चलने लगता है। आत्म-निरीक्षणके अभ्याससे भी, जैसा कि हम पहले कह आये हैं, पीछे यही स्थिति प्राप्त हो जाती है।

परन्तु जपमें जो मनकी क्रिया होती है, उसपर अधिक गहरा विचार करनेपर यह पता चलेगा कि इसमें अत्यधिक सावधानी तथा सतर्कताकी आवश्यकता होती है, क्योंकि एक ही नाम अथवा मंत्रकी बार-बार आवृत्ति करनेपर चित्तमें जो चित्र या मूर्ति बनती है उसपर चित्तको जमाये रखना खिलवाड़ नहीं है। मंत्रकी आवृत्तिसे धीरे-धीरे चित्तमें जो एक भावधारा उत्पन्न होती है, उसमें दो प्रत्ययाय, दो बाधाएँ ऐसी विकट होती हैं जिनके कारण उस भावधाराके छिन्न-भिन्न होनेका भय रहता है। पहली कठिनाई तो यह होती है कि चित्तमें संकल्प-विकल्पोंका उठना बंद नहीं होता—बार-बार वह मनमाने दृश्य ला-लाकर उपस्थित करता है, जिससे उस क्षीण भावधाराके टूटने तथा मार्गसे हट जानेका भय रहता है। दूसरी बाधा यह है कि मन कभी भी अपनी जप-साधनासे विरत होकर आलस्य और नींदका शिकार हो जा सकता है, जिससे कि वह भावधारा कठोर होकर जड़ताका एक ठोस पुंज बन जा सकती है। दोनों ही अवस्थाओंमें चित्तकी निर्विषयता एवं एकाग्रता टूट जाती है। इसलिये जपके ठीक तरहसे चलानेका अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि जिस भावकी आप आवृत्ति करते हैं, उसीपर चित्तको एकाग्र करनेकी

चेष्टा करें; परन्तु साथ ही इस बातकी भी खूब सावधानी रखें कि हृदयका रस पूर्णतः उसी ओर प्रवाहित होता रहे और भीतर इतना होश बना रहे कि जिसमें मन थककर या मार्ग छोड़कर नींदकी शरण न ले ले, तन्द्रामें लीन न हो जाय।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनको द्रष्टा बनाने तथा मनुष्यके क्षुद्र 'अहं' के पीछे रहनेवाली सत्य वस्तुके स्वरूपका अनुसन्धान करनेके अभ्यासके लिये जिन-जिन बातोंकी आवश्यकता है, वे सब बातें हमें जपके साधनमें प्राप्त होती हैं।

भक्तिके अंगरूपमें जपका साधन

जपकी साधनाके महत्त्वको भलीभाँति हृदयङ्गम करनेके लिये उसपर मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे ही विचार करना पर्याप्त नहीं है। उसके साथ ही यह भी जानना चाहिये कि जपका भक्तिके साथ क्या सम्बन्ध है। कारण कि जिसकी हम बार-बार आवृत्ति एवं चिन्तन करते हैं, वह कोई सामान्य शब्द नहीं है—वह तो भगवान्‌का पावन नाम है। और यह स्मरण रहे कि भगवान्‌के नामकी शक्ति अपार है। भागवत-का वचन है कि शास्त्रोंमें जिन-जिन प्रायश्चित्तोंका विधान पाया जाता है, उनसे खास-खास पापोंका ही मार्जन होता है। परन्तु नामकी साधनासे तो पापकी वृत्ति ही उच्छिन्न हो जाती है—जड़-मूलसे। इसी कारण नामकी साधना सर्वोपरि एवं सबसे निराली है। नामकी अतुल शक्तिका निदर्शन पुराणकी निम्नलिखित आख्यायिकामें हुआ है। एक बार भगवान् श्रीकृष्ण तुलापर बैठे और सत्यभामाजीने उन्हें तौलनेके लिये सुवर्ण और रत्नोंकी बहुत बड़ी ढेरी तराजूके दूसरे पलड़ेपर रखी। परन्तु भगवान् जिस पलड़ेमें बैठे थे, वह जमीनसे उठातक नहीं। तब रुक्मिणीजीने तुलसीके एक पत्तेपर भगवान्‌का नाम

लिखकर उसे दूसरे पलड़ेपर रक्खा। ऐसा करते ही भगवान्वाला पलड़ा एकदम ऊपर उठ गया। जो साधक नामकी इस अपार महिमाको समझकर पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वासके साथ नाम-साधनामें प्रवृत्त होता है, वह वस्तुतः एक ऐसी शक्ति प्राप्त कर रहा है जो उसके सम्पूर्ण अस्तित्वको आमूलतः पलट देगी और उसका जीवन कुछ और ही हो जायगा। क्योंकि भगवान्का नाम भगवान्से भिन्न नहीं है—किम्बहुना नाम तो भगवान्की अपेक्षा भी अधिक महिमामय है, अधिक तेजस्वी है, जैसा कि ऊपरकी कथासे स्पष्ट हो जाता है। नाम-साधनाके आरम्भमें साधककी इच्छाएँ और वासनाएँ अपनी हिलोरमें उसके मनको एक बार भले ही चंचल कर दें; परन्तु यदि साधक अपनी श्रद्धा और आस्थामें अडिग रहा, स्खलित नहीं हुआ तो यह नाम ही उसके समस्त योग-क्षेमका वहन करने लगता है। और उस समय साधककी इच्छाएँ तथा वासनाएँ वैसे ही दब जाती हैं, जैसे पथरसे दबा देनेपर कागज। इतना ही नहीं, नामकी निरंतर साधनासे हृदयमें भगवान्की प्रीति उत्पन्न होती है, उनके चरणोंमें अपने आपको लुटा देनेकी साध जगती है, और मन शीघ्र ही अपने इष्टके स्वरूपमें लीन हो जाता है, जो जीवनका सच्चा स्वरूप है। अपने भीतर ही अपनी खोयी हुई 'निधि' के दर्शन हो जाते हैं। अथवा नाम-जपका साधक नामके द्वारा भगवान्को पुकार सकता है कि प्रभु उसके अन्तःपुरमें पधारकर उसके हृदयरूपी सिंहासन-पर विराजमान हों। वह नामके द्वारा अपनी हृदय-गुफामें सोयी हुई शक्तिको जगा सकता है। बार-बारकी आतुर पुकार उस दिव्य शक्तिको जगा देती है और जब वह शक्ति जग जाती है तो मनुष्यकी पाशविक चेतना धीरे-धीरे दिव्य ईश्वरीय चेतनामें परिणत हो जाती है।

इस प्रकार धीरे-धीरे किन्तु निश्चितरूपसे नाम-जपके द्वारा मनुष्यके अन्तःकरणमें एक अद्भुत एवं अकल्पित परिवर्तन हो जाता है—मनुष्य कुछ-का-कुछ हो जाता है, पशुसे देवता बन जाता है। नाम-जप किस प्रकार मनुष्यको उस अज्ञात एवं सुदूर लक्ष्यतक पहुँचा देता है और वह भी ऐसे मार्गसे जिनकी सत्तापर ही हमें विश्वास नहीं होता जगतक हम उनपर चलकर उनको जाँच नहीं लेते, इसे श्रीरामकृष्ण परमहंसने वड़े ही सुन्दर ढंगसे समझाया है। वे कहते हैं—'जपका अर्थ है एकान्तमें बैठकर, मन-ही-मन भगवान्का नाम लेना। यदि श्रद्धा और भक्तिके साथ नाम लिया जाय और मन-प्राणको उसीमें लीन करनेकी चेष्टा होती रहे तो निश्चय ही भगवान्की प्राप्ति हो सकती है। उनका दर्शन, स्पर्श, सम्भाषण सब कुछ मिल सकता है। मान लो, एक लकड़ीका बहुत बड़ा शहतीर गंगाजीके अंदर डाल दिया गया है और उसका एक छोर सींकरसे बाँधकर उस सींकरका दूसरा छोर किनारेपर एक मजबूत खूँटेसे बाँध दिया गया है। यदि तुम सींकर पकड़े-पकड़े चले जाओ तो तुम गंगामें डुबकी लगा सकते हो और उसीके सहारे-सहारे उस शहतीरतक पहुँच सकते हो। इसी प्रकार यदि तुम नाम-जपकी साधनामें पूर्णतया लग जाओ, तल्लीन हो जाओ, तो यह निश्चय मानो कि तुम एक-न-एक दिन भगवान्को अवश्य-अवश्य प्राप्त कर लोगे।'।

अर्थपर लक्ष्य रखते हुए जपने और यों ही जपनेमें भेद

नाम-जपके साधकोंके लिये एक और बहुत महत्त्वकी बात कहनी रह गयी है। क्या यों ही—विना समझे-बूझे नाम जपते रहनेमें भी कोई लाभ है या नाम-जपसे लाभ उठानेके लिये उसके अर्थ और भावपर लक्ष्य रखना आवश्यक है? बुद्धि तो निस्सन्देह

यही निर्णय देगी कि जहाँतक हो सके सबको अर्थपर दृष्टि रखते हुए ही नाम-जप करना चाहिये । परन्तु प्रश्न पेचीदा है, इसपर कुछ अधिक गौर करनेकी आवश्यकता है । कई ऐसे विश्वासके धनी हो गये हैं, जिनकी यही मान्यता है कि चाहे जैसे भी हो भगवान्‌का नाम लिये जाओ, नाममें खयं इतनी शक्ति है कि चाहे तुम उसके अर्थपर दृष्टि रखो या न रखो, नाम अपना काम खयं कर लेगा । वे एक दृष्टान्त देकर अपनी बातको पुष्ट करते हैं, कहते हैं कि पानी पीते ही प्यास बुझ जाती है—चाहे तुम जानो या न जानो कि पानीमें कौन-कौनसे गुण हैं । इस दृष्टान्तमें दोष दिखलानेकी आवश्यकता नहीं है । ऐसा माननेवालोंकी नीयत और विश्वास तो अवश्य ही स्तुत्य हैं । हमें यह माननेमें भी कोई आपत्ति नहीं है कि न जपनेकी अपेक्षा किसी प्रकार भी नाम जपना बहुत ही लाभप्रद और कल्याणकारी है । परन्तु इस सिद्धान्तमें एक बहुत बड़ी कच्चाई है, जिसे प्रत्येक साधकको समझ लेना चाहिये । यदि साधक ऐसा मान बैठे कि यों ही नाम जपते जाना चाहिये तो उसके आध्यात्मिक जीवनमें एक अजीब शिथिलता और सुस्ती आ जायगी । उसकी सारी भक्ति एक खानापूरीके रूपमें हो जायगी—बस, एक बँधी-बँधायी प्रणाली तथा परिपाटीके भीतर उसकी साधना घुटती रहेगी । साधनामें एक जीवित-जागृत विश्वास तथा सक्रिय चेष्टाका अभाव हो जायगा और रह जायगा केवल एक निश्चेष्ट पुण्य कमानेका भाव, जिसमें हृदय-की सारी शंकाओंपर पत्थर सरकाकर केवल पुण्य छटनेकी ही लालसा मुख्य हो जाती है । संक्षेपमें कहना चाहें तो हम यों कह सकते हैं कि ऐसी भावनाका पोषण कर मनुष्य 'सुमीतेका धर्म' (comfortable religion) अंगीकार कर लेता है ।

जब यों ही, बिना अर्थपर लक्ष्य रखते हुए, नाम-जप करनेमें उतना लाभ नहीं है तो फिर नामके घटक वर्णोंके रहस्यपूर्ण अर्थ करना भी व्यर्थ-सा ही है, हानिकर भले ही न हो । इस प्रकार बारीकियाँ

निकांलनेसे उन लोगोंकी श्रद्धा और रुचि अलबत्ता जाग सकती है, जो कठोर दार्शनिक हैं और जिन्हें ऐसी ही बातें रुचिकर होती हैं जिनमें कुछ रहस्य अथवा अलौकिकताकी गन्ध आती हो । परन्तु एक सच्चे भक्तके लिये तो यह धारणा ही यथेष्ट है कि जिस नामका वह जप कर रहा है, वह भगवान्‌का है—अतएव दिव्य है; इस धारणासे ही उसके भीतर प्रसु-प्रेमकी ज्वाला जाग उठेगी और उसका चित्त प्रभुमें लीन हो जायगा । नाम-जपमें मुख्य बात यह नहीं है कि आप भगवान्‌के नाम अथवा मन्त्रमें अर्थकी बारीक-से-बारीक खूबियाँ—सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भाव निकाल सकते हैं या नहीं । मुख्य बात तो आपके भावकी शुद्धता एवं सबलता है, जिससे कि आप नाम-जपके साथ भगवान्‌का सम्बन्ध जोड़ सकें । यदि चित्तपर नाम-जपसे सम्बन्धित तथ्यों और अनेक प्रकारके अर्थोंका बोझा न हो तथा उन तथ्यों और अर्थोंको ठीक क्रमसे तथा परस्पर सम्बन्धके साथ स्मरण रखनेका फालतू काम जिम्मे न हो तो उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार नाम-जप करनेसे अधिक सफलता मिल सकती है ।

इस सत्यका निदर्शन निम्नलिखित इतिहाससे भलीभाँति हो जाता है । महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव दक्षिण भारतमें तीर्थयात्राके लिये निकले थे । मार्गमें उन्हें संस्कृतके एक प्रकाण्ड पण्डित मिले, जो गीतापर संस्कृतमें पाण्डित्यपूर्ण प्रवचन कर रहे थे । श्रोताओंमें एक ऐसे सज्जन भी थे जो संस्कृतसे सर्वथा अनभिज्ञ थे । परन्तु फिर भी प्रवचन सुनते समय उनकी आँखोंसे आनन्दाश्रुओंका अजस्र प्रवाह चल रहा था । उनसे पूछा गया कि आप प्रवचन समझ तो कुछ भी नहीं रहे हैं, फिर इतना रो क्यों रहे हैं ? वे बोले—भाई, मैं तो गीता सुनते समय यही देख रहा हूँ कि रथमें बैठे हुए अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्ण उपदेश कर रहे हैं । ऐसी प्रगाढ़ भक्ति और अटूट विश्वास था उनका गीताके भगवद्वाणी होनेमें—उनके लिये इतना

ही पर्याप्त था और इतनेहीसे उन्हें यह दिव्य अनुभव हो रहा था। गीताकी दार्शनिक एवं नैतिक बारीकियों-के विस्तृत विवेचनसे उन्हें क्या मतलब था ? भगवान्‌के नामके सम्बन्धमें भी बहुत अंशोंमें यही सिद्धान्त लागू है। नामका वास्तविक अर्थ उसीने समझा है, जिसकी नाममें श्रद्धा और प्रेम है, उसकी अमोघ एवं अतुलनीय दिव्य शक्तिमें विश्वास है; उसकी व्याकरणसम्बन्धी तथा दार्शनिक सूक्ष्मताओंसे परिचित होनेकी उतनी आवश्यकता नहीं।

अब अन्तमें हम नामके सम्बन्धमें परमहंस रामकृष्ण-देवके विचारोंका उल्लेख कर इस लेखको समाप्त करेंगे। कोई धर्मोपदेशक परमहंसजीसे यह कह रहे थे कि भगवद्‌प्राप्तिके लिये 'नाम' लेना ही पर्याप्त है। इसके उत्तरमें परमहंसदेवने उनसे यह कहा—'हाँ महाराज, मैं भी यह मानता हूँ कि भगवान्‌के नामका अमित प्रभाव है, परन्तु क्या बिना प्रेमके नाम लेना वस्तुतः 'नाम लेना' कहा जायगा ? आत्मामें प्रभुके लिये भूख जगनी चाहिये, एक तड़प होनी चाहिये। जीभसे तो राम-राम रट रहे हैं, परन्तु मन कञ्चन-कामिनीमें उलझ रहा है—ऐसे नाम लेनेसे क्या लाभ ? साँप झाड़नेवाले गारुड़ मन्त्र तो पढ़ते ही हैं, साथ ही गोंडोंका धुआँ भी करते हैं। खाली मन्त्र पढ़नेसे काम नहीं चलता। इसमें रत्तीभर भी शक नहीं कि भगवान्‌का नाम लेनेसे मनुष्यके सारे पाप धुल जाते हैं। परन्तु अभी एक क्षण नाम लिया और दूसरे ही क्षण अनेक प्रकारके पापाचरणोंमें लग गये—ऐसा नाम लेना किस कामका ? ऐसे लोगोंमें इतनी हिम्मत नहीं होती, इतना मानसिक बल नहीं होता कि वे शपथ ले लें, व्रत ले लें कि जो कुछ हो गया सो तो हो गया, अब भविष्यमें पाप नहीं करेंगे, पापके रास्ते जायँगे ही नहीं। गंगामें स्नान करनेसे अवश्य ही सारे पाप धुल जाते हैं, परन्तु स्नान करके जो पुनः पापमें प्रवृत्त हो जाते हैं, उनकी

क्या दवा है ? उनके लिये क्या उपाय है ? उनके सम्बन्धमें शास्त्र कहते हैं कि उनके पाप किनारेके वृक्षोंपर जाकर तारमें बैठे रहते हैं और ऐसे मनुष्य जब स्नान करके उधरसे निकलते हैं, पाप उन वृक्षोंसे कूदकर पुनः उनके सिरोंपर जा बैठते हैं। इसलिये भाई ! सदा-सर्वदा भगवान्‌का नाम लो, हर घड़ी उसे पकड़े रहो; परन्तु साथ ही प्रभुसे यह प्रार्थना भी करते रहो कि हे प्रभो ! मुझे अपना प्रेम प्रदान करो, अपनी प्रीति दो। हे प्रभो ! कामिनी, काञ्चन और कीर्ति—जैसे नखर पदार्थोंमें जो मेरी आसक्ति है वह सब नष्ट हो जाय और हृदयके सम्पूर्ण अनुरागसे मैं तुम्हें ही मजूँ, तुम्हारा ही गुण गाऊँ !'

किन्तु भगवान्‌का नाम लेते ही हमारी पूर्ण अनुरक्ति भगवान्‌में नहीं हो जाती—इस कारण हमें निराश और हताश होकर नाम-जपकी साधनाको छोड़ नहीं देना चाहिये। क्योंकि कुछ ही दिनके अभ्यासके अनन्तर नामका चमत्कार दीखने लगेगा और हमारा उससे लाभ होगा, अवश्य होगा। यदि श्रद्धा है, सचाई है, लगन है तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य समय पाकर आध्यात्मिक जीवनकी उच्चतर सीढ़ियोंपर चढ़ेगा और उसका अधिकाधिक विकास होगा। इस सम्बन्धमें भी परमहंस रामकृष्णदेव, महाप्रभु चैतन्यदेवके वचनोंको उद्धृत करते हुए, कहते हैं—'भगवान्‌के नाममें अपार शक्ति है। तुरन्त ही इससे लाभ भले ही न प्रतीत हो, परन्तु कुछ दिन नामकी साधना करते रहनेपर अवश्य ही लाभ होगा। मकानकी मुँडेरपर डाला हुआ बीज भी किसी समय जमीनपर पड़ूँच जाता है और जल्के संसर्गको पाकर अङ्कुरित होता है तथा क्रमशः उसमें पत्ते, फूल और फल भी लगने लगते हैं; चाहे यह सब उस दिन ही क्यों न हो जब कि मकानमें दरारें पड़कर वह फट जाय और गिर पड़े। इसलिये धैर्यके साथ साधना करते रहना चाहिये—देर-सबेरका प्रश्न मनको क्यों मथे ?'

ईश्वरका आकर्षण

(लेखक—दीवानबहादुर श्री के० एस० रामस्वामी शास्त्री)

चरम तत्त्वोंके सम्बन्धमें मानवीय विचार-धाराओं- पर जिस किसीने भी गम्भीरतापूर्वक विचार किया होगा, वह उनमें मिलनेवाली समानताओंसे आश्चर्य-चकित हुए बिना नहीं रह सकता और वह इस सस्ते और आत्मवञ्चनापूर्ण विचारको भी स्वीकार नहीं कर सकता कि केवल पूर्वने अथवा केवल पश्चिमने ही आध्यात्मिक अनुभवोंका ठेका ले रखा है। किन्तु भारतकी विशेषता यह है कि यहाँ सर्वोच्च सत्त्वोंका केवल ज्ञान ही नहीं था वरं वे कार्य और व्यवहारमें परिणत किये गये थे, सर्वसाधारणके जीवनमें उनका व्यापक प्रयोग किया गया था, अनेक व्यक्तियों वा महात्माओंने उनमें पूर्ण सिद्धि प्राप्त की थी और उनके द्वारा व्यावहारिक अनुभूतिकी प्रक्रियाओंका ज्ञान परम्परासे चलता रहा। ईश्वरसम्बन्धी साधनाओंका वैभवपूर्ण भाण्डार आज भी भारतमें प्राप्य है और अब भी यहाँ ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने इन साधनाओंमें अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया है और ईश्वर-प्राप्ति तथा ईश्वर-साक्षात्कारके कार्यमें इन साधनाओंकी प्रामाणिकताका भी अनुभव किया है।

आध्यात्मिक अनुभूतियों एवं प्रेरणाओंके क्षेत्रमें तो सिद्ध-महात्माओंकी एक ही भाषा होती है। पूर्व और पश्चिम दोनोंकी सर्वोच्च विचार-धाराएँ आत्मा और परमात्माके अस्तित्व तथा अंशशिभाव अथवा अभिन्नताके रूपमें दोनोंका निकट सम्बन्ध स्वीकार करती हैं। साकार भगवान्‌के साथ भी जीवके निकट सम्बन्धका अनुभव ज्ञानसहकृत भक्तिके द्वारा दोनों ही भूभागोंमें समानरूपसे किया गया है। आकारसे अतीत (जिसे भूलसे निराकार कहा

गया है) ईश्वर-तत्त्वके साथ एकत्वके सम्बन्धकी अनुभूति भक्तिसे अनुप्राणित ज्ञानके द्वारा होती है। इसे हम सर्वोच्च दार्शनिक विचारका निष्कर्ष अथवा सार मान सकते हैं। इस प्रकारका विचार पूर्व और पश्चिम दोनोंके सर्वोच्च दार्शनिक धर्म और धार्मिक तत्त्वज्ञानमें मिलता है।

यद्यपि साधारण ईश्वरवाद (जो कतिपय गौण सैद्धान्तिक अन्तरोंके होते हुए भी सभी विश्वधर्मोंमें समानरूपसे विद्यमान है) ईश्वरको मानवीरूपमें या साकार मानता है, परन्तु पूर्व और पश्चिमकी सर्वोच्च विचार-धारा ईश्वरके आकारसे अतीत रूपकी अनुभूति करनेकी ओर ही प्रवृत्त हुई है। ईश्वर निर्विशेष, अनिर्वचनीय तथा नाम-रूपसे परे है; वह सम्पूर्ण गुणों एवं विशेषणोंसे अतीत है; वह एक है, नित्य है और अनन्त है। वह मन और वाणीसे अप्राप्य है। इसलिये उसे जाना नहीं जा सकता, न उसका वर्णन ही किया जा सकता है। उनकी केवल 'एकमेवाद्वितीयम्' के रूपमें अमेद-दृष्टिसे अनुभूति की जा सकती है। भगवान्‌ शङ्कराचार्यके ग्रन्थोंमें ईश्वरका यह उदात्त स्वरूप हमें देखनेको मिलता है। एकहाटके ग्रन्थोंमें भी हमें वही सुदूर ध्वनि सुनायी पड़ती है—'गुण और रूपका सारतत्त्व।' वह फिर कहता है—'उसके अंदर सिवा उसके और कुछ नहीं है।' ईश्वरके इस स्वरूप-के सम्बन्धमें बिना सोचे-विचारे यह व्यङ्गपूर्ण आक्षेप करना कि यह केवल निषेधात्मक स्वरूप है, सरासर मूर्खता है। यह तो निषेधका ही निषेधक है।

उपर्युक्त निरूपणसे ही जगत्, आत्मा और परमात्माकी अभिन्नताके रहस्यात्मक दार्शनिक सिद्धान्तकी

उत्पत्ति एवं घोषणा होती है। वेदका कथन है—
‘तत्त्वमसि’ और ‘अहं ब्रह्मास्मि।’ (‘वह परमात्मा
तू ही है’ एवं ‘मैं ब्रह्म हूँ’)। ईशोपनिषद्में एक बड़े
मन्त्रके द्वारा इस सिद्धान्तको अद्भुत ढंगसे व्यक्त
किया गया है। उपासक सूर्यदेवसे प्रार्थना करता
है कि वे चकाचौंध उत्पन्न करनेवाली अपनी रश्मियोंको
एकत्र करके दृष्टिसे ओझल कर दें। वह अनुभव
करता है कि सूर्यके स्वर्णमय ‘बिम्बने नित्य सत्यकी
विभूतिको छिपा या ढक रक्खा है—(‘हिरण्मयेन
पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्’)। जब चौधियानेवाली
रश्मियाँ नहीं चमकती और दृष्टिमें बाधा नहीं डालती
तब श्रद्धालु सत्यका अन्वेषक क्या देखता है? वह
कहता है—‘मैं तेरा अत्यन्त दिव्य एवं मङ्गलमय रूप
देखता हूँ। सौरमण्डलके अन्दर रहनेवाला ईश्वर
मैं ही हूँ।’

पश्चिममें एकहार्ट घोषित करता है—‘ईश्वर
वही है, जो मैं हूँ। ईश्वरके साथ अभिन्नताकी
अनुभूति करनेके लिये जीवको ईश्वरकी समानताका
भाव छोड़ देना चाहिये। सीधे-सादे लोग ईश्वरको
इस रूपमें देखनेका स्वप्न देखते हैं मानो वह उनके
सामने खड़ा हो और वे उसके सामने खड़े हों।
ऐसी बात नहीं है। ईश्वर और हम ज्ञानकी दृष्टिसे
एक हैं।’ इसके साथ ही एकहार्टने साकार ईश्वरको
भी स्वीकार किया है और उसे आत्माकी निधि
कहकर वर्णन किया है। हमें ईश्वरको पकड़कर अपने
वशमें कर लेना चाहिये, जिससे हम ईश्वरसे मिलकर
एक हो जायँ और उसीमें रहें, उसीमें चलें-फिरें और
उसीमें हमारा अस्तित्व हो। सूफियोंने इस अनुभूति-
का उल्लासपूर्ण शब्दोंमें वर्णन किया है। वही ध्वनि
हमें वर्ड्सवर्थ, शेली और इमर्सनकी रचनाओंमें भी
मिलती है।

ईश्वरकी ऐसी रहस्यात्मक, धनिष्ठ और पूर्ण

अनुभूति (जिसमें उसे एक, परिपूर्ण और अनन्तरूपमें
अनुभव किया जाता है) एक दार्शनिक सिद्धान्तमात्र
नहीं है, वरं वह कल्याण, मोक्ष तथा सर्वोच्च
आनन्दकी स्थिति है। जो मनुष्य इस स्थितिको प्राप्त कर
लेता है, वह मृत्युके चक्रसे छूट जाता है—(‘मृत्यु-
मुखात्प्रमुच्यते’)। यही वह सत्य है जिसका
कठोपनिषद्में बड़ी बारीकीके साथ वर्णन किया
गया है। ज्ञानके साधनसे अवगति (अनुभूति)
होनी ही चाहिये। श्रीशङ्कराचार्यने बार-बार कहा
है कि अवगति ही धर्म है—(‘अवगतिर्हि पुरुषार्थः
अवगतिपर्यन्तं ज्ञानम्’)। धर्मका अर्थ सम्प्रदाय,
दुराग्रह, क्रियाकलाप अथवा पौराणिक गाथाएँ नहीं
है, ईश्वरकी प्रत्यक्ष अनुभूति और अवगति ही
धर्म है।

योगकी रहस्यानुभूति और उसकी सिद्धियाँ तथा
भक्तिकी अवस्थामें भावोंका उद्रेक, ये ईश्वरके साथ
एकता स्थापित करनेके दूसरे उपाय हैं। किन्तु इस
विचारकी पराकाष्ठा हमें शाङ्करसिद्धान्तमें देखनेको
मिलती है। ईश्वर जगत्का स्रष्टा है और सब जीवोंका
स्वामी है। किन्तु यह सापेक्षिक दृष्टिसे ही है।
परमार्थ अथवा तात्त्विक दृष्टिसे सृष्टि है ही नहीं और
आत्मा स्वयं परमात्मा है। एकहार्ट कहता है—
‘जिन पदार्थोंकी सृष्टि हुई है, वे कुछ नहीं हैं।’
शङ्करका कथन है कि माया अथवा अविद्या न तो
सत् है, न असत् है, वरं अनिर्वचनीय है; वही
जगत्का आविर्भाव करती है, जिसका तात्त्विक अथवा
परमार्थ-दृष्टिसे अस्तित्व नहीं है, केवल सापेक्षिक
दृष्टिसे ही अस्तित्व है। साम्प्रदायिक विचारके लोग
चाहे जो कहें, आचार्य शङ्करने ईश्वरवाद और
अद्वैतवादका अद्वितीय ढंगसे समन्वय किया है।
वे बताते हैं कि प्रकृतिमें स्वयं गति नहीं हो सकती।
सृष्टिको अपने प्रयोजनके अनुसार स्वयं ईश्वर ही

संचालित करते हैं। जगत्की व्यवस्था उन्हींका सङ्कल्प है। वे सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ हैं। वे जगत्के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण हैं। इस तरह आत्मा, परमेश्वर और ब्रह्मकी एकता— नहीं, नहीं, अभिन्नतामें ही विश्वकी विचार-धाराकी पराकाष्ठा देखनेको मिलती है। यह अवगति केवल कल्पनाप्रियता ही नहीं है। यह आत्माकी अत्यन्त गहरी अनुभूति है। यह आध्यात्मिक गूढ़ अनुभव ससीममें असीमकी अनुभूति है। फिस्ते (Fichte) ने इसका सारतत्त्व निम्नाङ्कित शब्दोंमें व्यक्त किया है—

‘अनन्त एवं अविनाशी तत्त्वके साथ एक हो जाने और उसमें मिल जानेकी भावना समस्त मर्त्यजीवनके मूलमें पायी जाती है। इस प्रकार अमरत्वकी दीन-

हीन सन्तान अपने पैतृक गृहसे बिछुड़कर सदा-सर्वदा अपनी दिव्य पैतृक सम्पत्तिसे घिरी होनेपर भी भयवश उसे प्राप्त करनेकी हिम्मत नहीं करती और मरुभूमिमें अनिश्चितरूपसे इतस्ततः घूमती-फिरती है। अपने आश्रयस्थानोंके तेजीके साथ मिटते जानेके कारण उसे अन्तमें इस बातका स्मरण होता है कि मुझे अपने पिताके घरके अतिरिक्त और कहीं विश्राम नहीं मिल सकता..... उस एकमें विश्राम एवं निवास करना ही परमानन्द है। अनेकता और विभेदके चङ्गुलमें पड़कर छिन्न-भिन्न हो जाना ही दुःख है। इसलिये आनन्दमय वा मुक्त होनेकी शर्त यह है कि अनेकसे अपना प्रेम हटाकर पुनः एकमें ले जायँ।’

श्रीमानस-शंका-समाधान

(लेखक—श्रीजयरामदासजी ‘दीन’ रामायणी)

शंका—श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डके आरम्भमें श्रीभरतजीने कहा है —

जन अक्षय्य प्रभु मान न काऊ । दीनबन्धु अति मृदुल सुभाऊ ॥

अर्थात् ‘प्रभु श्रीरामचन्द्रजी सेवकका अवगुण कभी नहीं मानते। वे दीनबन्धु और अत्यन्त मृदुल स्वभावके हैं।’ इस कथनसे क्या सिद्ध होता है? परमेश्वर श्रीरामचन्द्रजी न्यायी हैं अथवा अन्यायी? यदि न्यायी हैं तो कैसे?

समाधान—परमेश्वर श्रीरामचन्द्रजीमें अन्याय कहाँ? वे दीनबन्धु, अत्यन्त कोमल स्वभाववाले और करुणाके धाम होते हुए भी परम न्यायाधीश हैं। सबसे पहले ‘जन’ शब्दको समझ लेना चाहिये। अरण्यकाण्डमें अहर्षि नारदजीके प्रति ये श्रीमुखके वाक्य हैं—

गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई ।

तहँ राखइ जननी अरगाई ॥

प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता ।

प्रीति करइ नहिँ पाछलि बाता ॥

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी ।

बालक सुत सब दास अमानी ॥

जनहि मोर बल निज बल ताही ।

दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही ॥

यहाँ ‘जन’ शब्दका स्पष्टीकरण ‘बालक सुत’ अर्थात् दूध पीनेवाले बच्चेकी उपमा देकर किया गया है और सरकार श्रीरामचन्द्रजी अपनेको स्वयं माताके स्थानमें बतला रहे हैं—‘करउँ सदा तिन्ह के रखवारी । जिमि बालकहि राख महतारी ॥’ ऐसी स्थितिमें विचारनेकी बात है कि स्तन पीनेवाला बालक जब माताकी गोदसे उतरकर खेलते-खेलते साँप या अग्निको खिलौना समझता हुआ अज्ञानतावश उसे पकड़ने दौड़ता है, तब माता अपने उस बालकको दोषी मानकर उसका न्याय करने बैठती है अथवा

दौड़कर उसकी रक्षा करनेमें अपना दोष मानती है ? हाँ, जब वही नादान बच्चा सयाना हो जाता है, तब वह माता अपने उस 'प्रौढ़ तनय' पर प्रीति तो वैसे ही करती है, परन्तु 'नहिं पाछिलि बाता' अर्थात् पहलेके समान उसकी रखवारी करना छोड़ देती है और उसको सुधारनेके लिये उसकी जरा-जरा-सी गलतियोंको भी अवगुण मानकर उसपर कठिन शासन किया करती है तथा उस अवस्थामें ऐसा न करनेमें ही अन्याय समझती है। ठीक यही बात भगवान् और उनके जनोके बीच है। कारण यह है कि जो जन सर्वभावसे श्रीभगवान्के सच्चे शरणागत एवं प्रपन्न होते हैं, उनके मन-वचन-कर्म तीनोंपर भगवान्का ही साम्राज्य रहता है। वे अपनेको कठपुतलीकी भौंति और अपने प्रभुको पुतली नचानेवाले सूत्रधार-यंत्रीकी भौंति मानकर तद्रत, तल्लीन और तदधीन रहते हैं। जब उन जनोके अन्तःकरण विलग रहते ही नहीं, तब अवगुण किसमें माना जाय ? जिनका 'अह' और 'मम' दोनों ही प्रभुके बन रहे हैं (देखिये आल्वन्दारस्तोत्रमें—'मम नाथ ! यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव । नियतस्वमिति प्रबुद्धधीरथवा किं नु समर्पयामि ते ।') जो तनु और तनकी छायाकी भौंति भगवान्की प्रेरणासे ही अपना हिलना-डोलना मानते हैं, उन जनोका अवगुण मानना ही अन्याय कहा जा सकता है। और इसीलिये उपर्युक्त प्रसंगमें सरकार श्रीनारदजीसे स्पष्ट कह देते हैं—

सुख मुनि तोहि कहउँ सहरोसा ।

भगहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ॥

अर्थात् जो सर्वोपायशून्य तथा अनन्यगति होकर मेरा भजन करते हैं, उन्हींके साथ 'निज जन' के नाते यह दया और दीनबन्धुता निवाही जाती है। इसी प्रकार मानसके और-और प्रसंगोंमें वैसे जनोके

लिये ऐसे वचनोंके कई प्रमाण पाये जाते हैं। यथा किष्किन्धाकाण्डमें श्रीमारुतिजीके प्रति ये वचन कहे गये हैं—

समदरसी मोहि कह सब कोई ।

सेवक प्रिय अनन्य गति सोई ॥

सो अनन्य जाकें कसि भति न दरह हनुमंत ।

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी हनुमान्जीसे कह रहे हैं कि 'मुझ परमात्मा परमेश्वरको सब लोग समदर्शी अर्थात् सारे जगत्को एक दृष्टिसे देखनेवाला कहते हैं; परन्तु इस जगत्में जो जीव अनन्यगति होकर मेरा सेवक बन जाता है, उसीसे मैं प्रियभावका नाता मानता हूँ। क्योंकि उसकी बुद्धिमें सेवक और स्वामी—केवल दो ही रह जाते हैं, वह अपनेको सेवक मानता है और चराचर जगत्को स्वामिरूप मानता है। अतः जब उसकी दृष्टिमें स्वामीके अतिरिक्त और कुछ रह ही नहीं जाता, तब मैं किसके साथ उसकी बराबरी करके उसके लिये समदृष्टि कर सकूँ। इसीलिये उसे प्रिय मानता हूँ।'।

पुनः अवधकाण्डमें चित्रकूटकी समाके समय भी इसी प्रकारके वचन कहे गये हैं—

सुख सुरेसु उपदेसु हमारा । रामहि सेवकु परम पिभारा ॥

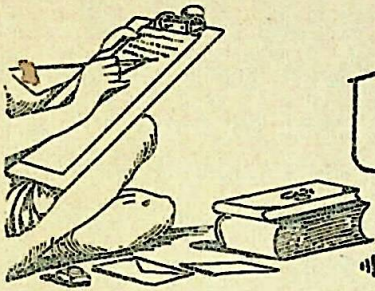
मानत सुख सेवक सेवकाई । सेवक बैर बैर अधिकाई ॥

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू । गहहिं न पाप पून गुन दोषू ॥

करम प्रधान बिस्व करि राखा । जो अस करइ सो तस फलु चाखा ॥
तदपि करहिं सम बिपस बिहारा । भगत अभगत हृदय अनुसारा ॥

ऐसे ही और भी बहुत-से प्रमाण श्रीमानसप्रन्थमें भरे पड़े हैं तथा समस्त श्रुति, स्मृति, शास्त्र, पुराण और इतिहासादि ग्रन्थोंमें भी ऐसे ही प्रमाण अधिकाधिक मिलते हैं। भला भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भी कभी अन्यायका सहारा ले सकते हैं ?

सियावर रामचन्द्रकी जय ।



परमार्थ पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

श्रीनारायणदेव और उनके भक्तोंके वही चीज काममें आ सकती है, जिसमें किसीका ममत्व न हो। जबतक किसी चीजपर किसीका ममत्व बना रहता है, तबतक वह भगवान्‌के अर्पण नहीं हो सकती। जब संसारका एक साधारण सत्पुरुष भी किसी दूसरेकी वस्तुको काममें नहीं लाता, तब भगवान्‌ किस तरह काममें ला सकते हैं ? यद्यपि सब कुछ भगवान्‌का ही है, परन्तु जबतक मनुष्य किसी वस्तु-परसे अपना अधिकार हटा नहीं लेता तबतक श्रीनारायणदेव उसे स्वीकार नहीं करते।

जैसे कभी किसी भले आदमीके घरमें कोई पक्षी अंडा दे देता है तो जबतक अंडा फोड़कर उसके बच्चे उड़ नहीं जाते एवं जबतक वह पक्षी उस घोंसलेसे अपना सम्बन्ध रखता है, तबतक वह भला आदमी उस जगहपर अपना अधिकार नहीं जमाता। यद्यपि वह लोकदृष्टिमें सब प्रकारसे अपने उस मकान-का मालिक है, उसका मकानपर पूरा अधिकार है, फिर भी वह उस स्थानको अपने अधिकारमें नहीं लेता।

इस प्रकार जब एक साधारण दयालु पुरुष भी दूसरेके अधिकारमें गयी हुई अपनी वस्तुको अपने अधिकारमें नहीं लेता, तब श्रीनारायणदेव और उनके मर्मको जाननेवाले उनके प्रेमी भक्त कब ऐसी किसी वस्तुको अपने उपयोग एवं अधिकारमें ले सकते हैं ? अर्थात् कभी नहीं ले सकते। जब उस पक्षीके

बच्चे उड़ जाते हैं तथा वह पक्षी भी उस घोंसलेको छोड़कर चला जाता है, तब मकानमालिक उस जगहको काममें लेता है। परम दयालु भगवान्‌ तथा उनके प्रेमी भक्त भी ऐसे ही अपने मकानको काममें लेते हैं। पक्षीके उड़ जानेपर मकानमालिक चाहे तो उसके घोंसलेकी लकड़ियोंको भी काममें ला सकता है, क्योंकि अब उस पक्षीका उस घर और घोंसलेमें ममत्वभाव नहीं रह गया। चाहे घरका मालिक अब उस घोंसलेमें आग ही क्यों न लगा दे, उस पक्षीको उसके ऐसा करनेसे कोई सुख-दुःख नहीं होगा। इसी प्रकार जब कोई मनुष्य ममता छोड़कर भगवान्‌की किसी वस्तुको भगवान्‌के अर्पण कर देता है, तब श्रीनारायणदेव बहुत हर्षके साथ उस वस्तुको अपने काममें ले लेते हैं।

भगवान्‌के भक्तोंकी भी ऐसी ही बात है, क्योंकि भक्त तो अपने मालिकके अनुसार ही चलते हैं। जो स्वामीकी आज्ञा और रुचिके अनुसार चले, वही तो भक्त है। ऐसे ही भक्तोंके श्रीनारायणदेव भी अधीन हो जाते हैं—जैसा कि श्रीगीताजीके अध्याय ४, श्लोक ११ में लिखा है। जो भक्त अपना सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण कर देता है, श्रीनारायणदेव भी अपना सर्वस्व उसके अर्पण कर देते हैं। फिर भी भक्तको यह भाव कदापि नहीं रखना चाहिये कि अपना सब कुछ दे देनेपर श्रीनारायणदेवका सब कुछ

मुझे मिल जायगा। ऐसा भाव रखनेवाला श्रीनारायण-देवका अतिप्रिय नहीं होता। उसे तो यही भाव रखना चाहिये कि श्रीनारायणदेवका सर्वस्व मैं नहीं चाहता। मेरी तो यही प्रार्थना है कि श्रीनारायणदेव मुझको तथा अपनी सब वस्तुओंको अपना लें, इसके अतिरिक्त मैं उनसे मुक्ति भी नहीं माँगता। इसपर यदि कोई कहे कि किसलिये तुम ऐसी प्रार्थना करते हो, तो उसका उत्तर यही है कि केवल प्रेमके लिये। इसपर भी कोई पूछे कि प्रेम किसलिये चाहते हो तो उसका उत्तर भी यही होना चाहिये कि प्रेमके लिये ही प्रेम चाहता हूँ, और किसी वस्तुके लिये नहीं।

(२)

आपने भजन-सत्सङ्गके पुरुषार्थकी न्यूनता लिखी, सो उसका कारण समझना चाहिये। भगवान् और शास्त्रोंमें विश्वास होनेसे तथा भजन-सत्सङ्गको सर्वोत्तम समझनेसे ही भगवत्प्राप्तिके पुरुषार्थकी वृद्धि होती है। आपने लिखा कि भीतरके सङ्कल्प बहुत उठते हैं—इतने उठते हैं कि उनका कुछ ठिकाना नहीं, सो ठीक है। भीतरके त्यागसे ही सङ्कल्पका नाश हो सकता है। जो कुछ सङ्कल्प उठे उसको मिथ्या जानकर उसका तिरस्कार कर देना चाहिये अर्थात् व्यर्थ समझकर उसे छोड़ देना चाहिये। संसारकी ओरसे हर समय बेपरवा रहना चाहिये। संसारके सङ्कल्प अर्थात् चिन्तनको प्रतिक्षण भुलानेकी चेष्टा करनी चाहिये और आनन्दमूर्ति भगवान्के दिव्य स्वरूपको चित्तमें जमाये रहना चाहिये। इससे सङ्कल्पोंका नाश तो होगा ही, भगवान्की स्मृति भी सदा बनी रहेगी, जो भगवत्प्राप्तिका प्रधान साधन है।

आपने पहले लिखा था कि 'आपकी चिट्ठी पढ़कर आनन्द तो बहुत हुआ, किन्तु आपकी लिखी बातें मुझे लगी नहीं।' सो ठीक है। परन्तु आपको

मेरी बातोंसे आनन्द हुआ, यह भी कैसे समझा जाय ? सच्चा आनन्द तो उसीको समझना चाहिये जो किसी बातको धारण करनेसे होता है। आपने आनन्दकी बात लिखी, सो आपकी कृपा है। धारण भी उन्हींकी बात होगी, जिनकी आज्ञाओंको कोई टाल नहीं सकता। मैं तो आपकी कृपा और प्रेमके कारण जो मनमें आता है, लिख देता हूँ और इसीलिये आपको मेरी बातोंसे आनन्द भी आता है। यदि आपकी प्रीति न होती तो आपको मेरा पत्र पढ़नेसे आनन्द नहीं आता।

आप जिस कामके लिये आये हैं, उसे जल्दी पूरा करना चाहिये। समय बीता जा रहा है। जो समय भगवान्के ध्यानमें, नाम-जपमें तथा सत्सङ्गमें बीतता है, वही रहता है। जो समय संसारके कामोंमें जाता है, वह बीत जाता है। आपको एक पल भी संसारके मिथ्या कामोंमें नहीं लगाना चाहिये। यदि संसारका काम शरीरसे करना ही पड़े तो भगवान्के नामका जप और स्वरूपका ध्यान करते हुए ही करना चाहिये। प्रतिदिन ऐसी ही चेष्टा करनी चाहिये और चेष्टा भी बहुत जोरकी होनी चाहिये। आजतक जितनी चेष्टा की, उससे बहुत अधिक चेष्टा करनी चाहिये। ऐसी आदत डाल लेनी चाहिये कि भगवान्के ध्यानके बिना एक पल भी न रहा जाय तथा उसके अतिरिक्त और कोई बात अच्छी न लगे। आँख और कान भगवान्की ही बात देखें-सुनें, मन भगवान्के भजन, ध्यान और सत्सङ्गमें ही रमा रहे तथा संसारके अन्य सब कार्योंसे विरक्ति हो जाय—ऐसी चेष्टा बराबर करते रहना चाहिये। भय, सङ्कोच, मान, बड़ाई, शील, सब कुछ छोड़कर एकमात्र ध्यानसहित नारायणके नामकी ही शरण लेनी चाहिये। वही आपका है। बाकी सब तो मिथ्या है, कल्पित है, स्वप्नवत् है। ध्यान ऐसा होना चाहिये

कि शरीरका भी ज्ञान न रहे। आपको एकान्तमें निरन्तर साधन करनेके लिये पर्याप्त समय मिलता है या नहीं? मेरे एक मित्र तो कहते थे कि उन्हें कठकतमें भी करीब १४ घण्टे एकान्तमें साधनके लिये मिल जाते हैं।

(३)

भगवान्की स्मृतिमें भूलें अधिक होती हैं, इसका उपाय तो तीव्र अभ्यासकी चेष्टा ही है। और भगवान्में प्रेम बढ़ानेका उपाय पूछा, सो भगवान्के गुणानुवादको बाँचने, सुनने, कहने और उसके लक्षण, आशय, प्रभावकी ओर लक्ष्य करनेसे भगवान्में प्रेम-भाव बढ़ सकता है। ये सब बातें भी भजन और सत्सङ्गका तीव्र अभ्यास करनेसे ही सिद्ध होती हैं।

भजन-सत्सङ्ग अधिक हो, इसके लिये तीव्र इच्छाकी ही आवश्यकता है। किसी वस्तुको पानेकी तीव्र इच्छा होती है, तो उसके लिये प्रयत्न और चेष्टा स्वाभाविक ही अधिक होती है। जिसको रुपयोंकी आवश्यकता होती है, वह रुपयोंका ही चिन्तन और रुपयोंके लिये ही तन-मनसे चेष्टा एवं प्रयत्न करता है। उसके मनमें हर समय प्रायः इसी बातकी चिन्ता रहती है कि रुपये किस प्रकार पैदा हों! वह रुपया पैदा करनेके विचारमें अपने तन-मनको अर्पण कर देता है। इसी प्रकार जिनको भगवान्से मिलनेकी इच्छा होती है उनके मन-बुद्धि ऊपर लिखे अनुसार भगवान्को अर्पित हो जाते हैं।

कोई आदमी अधिक बीमार होता है और वैद्य कहता है कि अमुक वस्तुके प्रयोगसे रोगी बच सकता है, तब उस वस्तुके लिये जैसी चेष्टा होती है, वैसी ही चेष्टा भजन और सत्सङ्गके लिये होनी चाहिये। तीव्र इच्छा होनेसे ही तीव्र चेष्टा होती है और तीव्र चेष्टा होनेसे ही सत्-वस्तुकी प्राप्ति

होती है। संसारकी मिथ्या वस्तुएँ तो चेष्टा करनेपर भी शायद न मिलें और मिल जानेपर भी उनसे रोगीको लाभ हो या न हो; परन्तु भजन और सत्सङ्गके लिये जो चेष्टा की जाती है, वह अवश्य सफल होती है। भजन-सत्सङ्गरूपी औषधका लगातार बहुत दिनोंतक सेवन करनेसे जन्म-मरणरूपी बीमारीका अवश्य नाश होता है। सत्की चेष्टा कभी व्यर्थ नहीं जाती।

जपमें भूल होनेकी बात लिखी, सो जपका अधिक अभ्यास करनेसे ही जपकी भूल मिटती है। प्रेमके विना भी प्रसन्न मनसे जपका अभ्यास करते रहनेसे आगे चल्कर प्रेमसहित जप भी हो सकता है। जप जिस समय निरन्तर होने लगता है, उस समय प्रेमसहित ही होता है। वैराग्य होनेसे तो विना चेष्टा किये भी जप और ध्यान निरन्तर होने लगते हैं और भजन, ध्यान, सत्सङ्गसे ही वैराग्य होता है। भगवत्की स्मृति हर समय बनी रहे, ऐसी इच्छा ही भगवान्के निरन्तर चिन्तनमें हेतु है। जप करते समय भगवत्-विषयकी स्फुरणाओंको बलात्कारसे बढ़ानेका अभ्यास करना चाहिये। वैसा अभ्यास करनेसे जपके साथ ध्यानकी वृद्धि और संसारकी वासनाका क्षय हो सकता है।

सत्ता और आसक्तिसे रहित स्फुरणा हो तो कोई हर्जकी बात नहीं है। संसारकी सत्ता और उसके प्रति आसक्तिके नाशके उपाय जप और सत्सङ्ग ही हैं, अतः उसके लिये तीव्र अभ्यासकी आवश्यकता है। भगवान्के नामकी याद हर समय बनी रहनी चाहिये। ऐसा अभ्यास होनेपर आगे चल्कर संसारसे वैराग्य तथा भगवान्के स्वरूपमें स्थिति भी हो सकती है।

श्रीपरमात्मदेवकी कृपा तो सदा सबपर है; जो ऐसा निश्चय कर लेता है, वही भगवान्की कृपाका पात्र है। उसको भगवान् शीघ्र ही मिल जाते हैं। क्योंकि भगवान्के बिना मिले उसको चैन ही नहीं पड़ती। संसार और शरीरको मिथ्या तथा नाशवान् देखनेसे और सर्वव्यापी परमात्माको आनन्दस्वरूप एवं पूर्ण देखनेसे भी वैराग्य हो सकता है। संसारसे यदि घृणा हो जाय तो संसारका चिन्तन कम हो सकता है और संसारको मिथ्या, कल्पित तथा दुःखरूप देखनेसे संसारके प्रति घृणा हो सकती है।

प्रेमका उपाय लिखा ही जा चुका है। भगवान्के स्वरूपका चिन्तन, भगवन्नामका जप तथा सत्सङ्ग ही प्रेम उत्पन्न करनेके उपाय हैं। जपके लिये जितनी ही अधिक चेष्टा होगी, उतना ही अधिक वह हमसे बन पड़ेगा। जो आदमी भगवान्को सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, दयासिन्धु तथा बिना ही कारण हित करनेवाला जानता है, वह कभी उनसे किसी बातके लिये प्रार्थना नहीं करेगा। यदि प्रार्थना करेगा भी तो केवल प्रेमभावसहित उनके निरन्तर चिन्तनके लिये ही करेगा।

हर समय नामस्मरणका अभ्यास हो जानेपर पीछे बहुत समयतक ध्यानकी स्थिति भी रह सकती है। भगवान्को याद रखते हुए ही संसारका काम हो, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। संसारके कामोंसे भजन-ध्यानको बहुत ही उत्तम और अनमोल समझना चाहिये। संसारके कामोंमें चाहे जितना हर्ज हो जाय, किन्तु संसारके मिथ्या कामोंके लिये भजन-ध्यान तो छूट ही नहीं सकता—ऐसी पक्की धारणा हो जानेपर संसारका काम करते हुए भी भजन हो

सकता है। संसारके काम नदीके प्रवाहके समान हैं। इसमें पड़कर जो पुरुष भगवान्के चरणरूपी नौकाको ध्यानद्वारा पकड़ लेता है अथवा भगवान्के नामरूपी रस्सेको पकड़ लेता है, वही इसमें डूबनेसे बच सकता है; पर जो नदीके प्रवाहमें बह जाता है, उसकी बहुत दुर्दशा होती है।

मुझे प्रार्थनाकी बात नहीं लिखनी चाहिये। भजन-सत्सङ्ग अधिक होनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और तब धारणा होनेमें देर नहीं लगती। अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर संसारकी कामना रह ही नहीं सकती। इसके लिये चेष्टा तो आपकी है ही, और भी अधिक पुरुषार्थ करना चाहिये। इस काममें अभ्यास ही प्रधान है और अभ्यास भगवान्की कृपासे स्वतन्त्र है। दिन बीतते जा रहे हैं, आपको मनमें विचारना चाहिये—'मैंने इस संसारमें आकर क्या किया? इसी प्रकार यदि और समय भी बीत गया तो जल्दी कैसे काम बनेगा? समयको अनमोल समझकर अनमोल काममें ही लगाना चाहिये। मरनेके बाद संसारके रुपये और भोग किस काम आवेंगे? असली वस्तु तो वही है, जो भगवान्से अधिकाधिक प्रेम करावे। बाकी सब मिट्टी है। सोनेके और पत्थरके पहाड़ोंमें क्या अन्तर है? दोनोंमेंसे एक भी वस्तु साथ जानेवाली नहीं है। शरीर भी मिट्टीमें मिल जानेवाला है। ऐसा जानकर इस संसारसे पूर्ण छाम उठाना चाहिये। भगवान्के भजन-ध्यानके बिना एक पल भी व्यर्थ क्यों जाय? अतः एक-एक पलका हिसाब रखते हुए उसे भजन-ध्यानमें लगाना चाहिये। संसारके सारे पदार्थ मिथ्या हैं। मिथ्या कार्योंमें अपने अनमोल समयको नहीं गँवाना चाहिये।



दीनबन्धुकी प्रत्यक्ष दीनवत्सलता

पौने दो वर्ष बीत गये। श्रावणका महीना था। मैं डिस्ट्रिक्टबोर्डके अस्पतालमें पड़ा कराह रहा था। अश्मरी (पथरी) की भयानक पीड़ा थी। पेशाबकी थैलीमें पत्थर हो गया था। जीना दूभर हो रहा था। बार-बार मृत्युका आवाहन करता था, परन्तु ऐसे घोर कष्टके समय उसकी कृपा अत्यन्त दुर्लभ हो जाया करती है। सारी चेष्टाएँ विफल हो चुकी थीं। अस्पताल-के डाक्टरोंने उपचार करनेमें कोई कसर उठा नहीं रखी। बेचारे रातके १२ या १ बजे भी आकर देख-भाळ करनेमें नहीं चूकते। उनका मैं अत्यन्त ऋणी हूँ। स्थानीय स्कूलके छात्र भी जब अवकाश पाते मुझे आकर घेर लेते। अपने भूतपूर्व शिक्षकको इस दारुण रोगमें फँसे देखकर उन्हें बड़ा दुःख होता। मेरे ग्रामीण भाइयोंका भी ताँता लगा रहता। बड़े-बड़े लोग भी आकर बराबर देख जाते। मैं सबको कभी तो आश्वासन देता और कभी फूट-फूटकर उनके सामने खूब रोता। माँ सिरहाने बैठकर मेरे आँसू पोंछ करतीं और स्वयं भी रोतीं। बड़े भाई साहबके दुःखका पारावार न था। सर्वस्व बेचकर भी वे मेरी चिकित्सा करानेको तैयार हो गये। इधर मेरी अवस्था प्रतिदिन बिगड़ती ही जाती थी। 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।' पटने ले जानेकी सम्मति होती, परन्तु मैं इस योग्य नहीं था कि कहीं ले जाया जा सकूँ। मुझे विश्वास हो गया कि अब मेरी मृत्यु समीप है। चारों ओरसे निराशा हो गयी। मैं प्रत्येक व्यक्तिको बड़ी करुण दृष्टिसे देखता। सब मुझसे छूट रहे हैं, इस विचारसे अत्यधिक दुःख होता; परन्तु उस समय मृत्यु बड़ी ही आनन्दप्रद वस्तु थी। मैं शीघ्रातिशीघ्र उसे आनेके लिये प्रार्थना करता था। अन्तमें उससे भी निराशा हो गयी। 'कबतक इस घोर कष्टमें मैं पड़ा रहूँगा' इस विचारसे धैर्य छूट गया।

उस दिन मङ्गलवार था। रात आधीसे ऊपर बीत चुकी थी। किसीने मेरे कानमें कहा—'सर्वरोग कै औषध नाम।' डूबतेको तिनकेका सहारा मिला। उस निराशा-में कुछ आशाकी झलक मालूम होने लगी। मैं जोर-जोर-से भगवान् श्रीकृष्णका नाम उच्चारण करने लगा। आखिर करता क्या—विषपान करना चाहता था, परन्तु विष देता कौन? कुएँमें कूदकर प्राण देनेकी बात सोचता, परन्तु उसके पास जानेकी शक्ति कहाँ थी। बस, 'हारे' को हरिनाम, 'सुने री मैंने निरबल के बल राम' के अनुसार अपने दीनबन्धु शरणागतपाळ भगवान् श्रीकृष्णको पुकारने लगा—उसी व्याकुलतासे जैसे माँ द्रौपदीने वस्त्रहरणके समय उन्हें पुकारा था। फिर क्या था, उनकी कृपा हो ही गयी। औषध शीघ्र काम कर गयी। मेरी पीड़ा पलभरमें नष्ट हो गयी। मैं आनन्द और कृतज्ञतासे गदगद हो गया। चारों ओर मुझे प्रभुमय प्रतीत होने लगा। मेरे पास शब्द नहीं कि मैं उस आनन्दका वर्णन कर सकूँ। मैं अपनेको प्रभुके अति निकट पाकर फूले नहीं समाया। मैं इसी भावावेशमें मग्न था कि मेरे मित्र पोस्टमास्टरसाहब तथा डाक्टरसाहबने मुझसे तबियतका हाल पूछा। मैंने अत्यन्त कृतज्ञतापूर्वक उत्तर दिया, 'आप लोगोंने मेरे लिये बड़ा कष्ट किया। रात बहुत कम रह गयी है, जाकर आराम कीजिये। मैं पूर्णरूपसे स्वस्थ हूँ। भगवान् ने मेरा दुःख सुन लिया और मेरी सारी पीड़ा हर ली।' डाक्टरसाहब इन्जेक्शन देने आये थे। उन्हें मेरी बातपर विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने इसे केवल Chance (संयोग) समझा और हँसते हुए बोले, 'इनको Mania (पागलपन) हो गया है।' मुझे भी हँसी आ गयी। उन्हें भला, यह गूढ़ रहस्य क्या समझमें आता! 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।'।

सबसे मैं बराबर सुखी हूँ। भला, वह कोई ऐसी-वैसी औषध थोड़े ही थी जिससे रोगकी पुनरावृत्ति हो। यह रोग मुझे क्यों हुआ था, इसका रहस्य मुझे अब समझमें आया। मुझे अपनी सेवाओंका कुछ अहङ्कार हो गया था। मैं समझता था कि जितना मैं दूसरोंके लिये कर सकता हूँ, उतना दूसरे मेरे लिये कभी नहीं कर

सकते। परन्तु उस भयानक रोगके आक्रमणने ठीक उलटा सिद्ध करके मेरे अहङ्कारका नाश कर दिया। यह रोग नहीं, बल्कि मेरे अज्ञान और दर्पकी औषध थी। बोलो भगवान् श्रीकृष्णकी जय !

—श्री 'रघुनन्दन'

सुखकी खोज

(लेखक—श्रीधुमुकलालजी श्रीवास्तव)

एक मनुष्य एक दूकानमें कपड़े मोल ले रहा था। दूकानदार उसके सामने तरह-तरहके कपड़े रख रहा था, पर उसे कोई पसन्द न आता था। कभी कहता कि इसका रंग जरा ज्यादा गाढ़ा हो गया है, कभी कहता कि इसका रंग तो एकदम फीका है और कभी कहता कि यह बिना रंगका होता तो अच्छा होता। ग्राहक जिस ढंगका कपड़ा चाहता दूकानदार वैसा ही कपड़ा सामने ला रखता। अन्तमें एक ऐसा कपड़ा ग्राहकके पास लाया गया जिसमें उसे रंग आदि किसी बातकी कमी नहीं दिखायी दी। उसने मनमें कहा कि कपड़ा तो सुन्दर है, किन्तु इसमें भी कुछ-न-कुछ कमी अवश्य है—दिल नहीं भरता; काश इससे भी अधिक सुन्दर होता ! दूकानदारको घंटों तंग किया था, उसे अब खीझते देखकर वही कपड़ा मोल ले लिया और ग्राहक घरकी ओर चल पड़ा। मनमें सोचने लगा कि इस कपड़ेमें भी कौन-सी कमी रह गयी है। कैसा कपड़ा होता तो मुझे पसन्द आता ? मैं सचमुच क्या ढूँढ़ रहा हूँ और उसे पा नहीं रहा हूँ ?

यह ग्राहक ही नहीं, हम सभी निरन्तर उस वस्तुकी खोजमें प्रयत्नशील रहते हैं जिससे हमें पूर्ण आनन्दकी प्राप्ति हो सके। मिष्ठान आदि खाना, अनेकानेक दृश्य, नृत्य, नाटक, सिनेमा आदि देखना, संगीत सुनना, विषयोपभोग आदिमें क्लिप्त होना, कला-

कारोंकी कलाओंका आखाद लेना, कवियोंकी कविताओंमें मनको संलग्न करना आदि नाना प्रकारके उपाय हम उस पूर्ण आनन्दकी प्राप्तिके निमित्त सदैव किया करते हैं; परन्तु क्या हमें तृप्ति होती है ? क्या हमारे हृदयकी प्यास शान्त होती है ? हृदयके भीतरसे तो यही आवाज निकलती रहती है कि वह वस्तु जिसकी खोज की जा रही है, नहीं मिली—वह वस्तु नहीं मिली ! हमारे समस्त प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं। इसका क्या कारण है ?

देखिये श्रीतुलसीदासजी क्या कहते हैं—

मैं हरि साधन करइ न जानी,

जस आमय भेयज न कीन्ह तस, दोष रहा बिरमानी ।

रोग कुछ और ही है और दवा कुछ और ही हो रही है। तब भला रोगसे मुक्ति कैसे हो सकती है। आखिर वह कौन-सी दवा है, वह कौन-सा उपाय है, जिससे अभिवाञ्छित सुख प्राप्त किया जा सकता है ?

उपर्युक्त प्रश्नका उत्तर हमें सहज ही मिल सकता है, यदि हम यह जान लें कि सुख कहाँ है। यह तो निर्विवाद निश्चित है कि सुखकी खोजकी ओर ही सबकी प्रवृत्ति है। दार्शनिक, वैज्ञानिक, कलाकार, गणितज्ञ, युवा-वृद्ध, अमीर-गरीब, सबकी प्रवृत्ति इसीलिये है कि उनके भिन्न-भिन्न साधनोंका परिणाम सुख ही हो। यह प्रवृत्ति हममें क्यों और कहाँसे

आयी ? यदि हम किसी बीजको अङ्कुरित होते, अङ्कुरको बढ़ते, पल्लवित एवं पुष्पित होते देखकर यह पूछें कि बीजमें यह बढ़ने आदिकी प्रवृत्ति कहाँसे आयी तो हमें तत्काल ही यह उत्तर मिलेगा कि बीजमें यह प्रवृत्ति बाहरसे नहीं आयी वरं उसीमें यह प्रवृत्ति निहित है । इसी तरह हममें सुख ही खोजनेकी जो प्रवृत्ति है उसका कारण कोई बाह्य प्रेरणा नहीं है वरं वह अपने अन्तः-करणमें ही निहित है । यदि यह प्रवृत्ति बाह्य प्रेरणासे होती तो वह भिन्न-भिन्न युगों और भिन्न-भिन्न मनुष्योंमें एक-सी नहीं दिखायी देती । संतोंने बतलाया है कि हमारी आत्मा आनन्दराशि है, सभी सुखोंका उद्गम-स्थान अथवा अक्षय भण्डार है । हम सचमुच उसीको ढूँढ़ते रहते हैं । किन्तु इस बातका बोध न होनेके कारण हम उस मृगकी तरह जो अपनी ही कस्तूरीकी सुगन्धकी खोजमें सारा वन छान डालता है अनेकानेक असमर्थ उपायोंका अवलम्बन करते हैं । अनन्त सुख-राशिके अपने अंदर वर्तमान रहते हुए भी हम बाह्य वस्तुओंमें उसकी खोज करते हैं । परिणाममें निश्चय ही असफलता हमारे हाथ लगती है । यदि पुष्प अपनी सुगन्धकी खोज करे तो उसका यह प्रयत्न अवश्य ही

हास्यास्पद होगा । जो वस्तु जहाँ है उसकी खोज वही होनी चाहिये । हम स्वयं सुख-राशि हैं । हम इस सुख-राशिको क्या ढूँढ़ते हैं, स्वयं अपनेको ही ढूँढ़ते हैं । फिर अपनेको बाहर इन्द्रियकृत संसारमें, इन्द्रिय-गोचर प्रपञ्चमें ढूँढ़ना कैसा ? इन्द्रियोंद्वारा ढूँढ़नेसे तो प्रपञ्च ही हाथ आता है । अपने आपको, उस सुख-राशिको, प्रपञ्चमें ढूँढ़ना ही महा अज्ञान है । संत नानकका इस विषयमें यह अमूल्य उपदेश है—

काहे रे बन खोजन भाई ।

सरब निवासी सदा अछेपा, तोही संग समाई ॥१॥

पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है, सुकुर माहिं जस छाई ।

तैसे ही हरि बसै निरंतर, घट ही खोजौ भाई ॥२॥

बाहर भीतर एकै जानो, यह गुरु ग्यान बताई ।

जन नानक बिन आपा चीन्है, मिटे न भ्रम की काई ॥३॥

इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि हम चाहे अनन्त कालतक प्रपञ्चमें सुखकी खोज करते रहें, परन्तु वह वहाँ कदापि नहीं मिलेगा । अतएव जिन इन्द्रियोंके द्वारा प्रपञ्च अनुभवमें आता है उनकी प्रवृत्तियोंको रोककर अपने अंदर विद्यमान अनन्त सुखकी प्राप्तिके लिये सबको प्रयत्न करना चाहिये ।

हृदयकी चाह

योगिन मैं बन जाऊँ, साँवरिया तेरी ।

योगिन बनकर बन-बन डोलूँ, तेरे ही गुण गाऊँ ।

निज उरकी कम्पित वीणापर प्रेमका राग सुनाऊँ ॥ साँवरिया तेरी ॥

नितुर जगतके कोलाहलसे दूर कहीं चल जाऊँ ।

निर्जन वनमें कुटी बनाकर, तेरा ध्यान लगाऊँ ॥ साँवरिया तेरी ॥

पुतलीका प्याला कर, प्रियतम ! हग-झोली लटकाऊँ ।

दर्शव-भिक्षा चाह हृदयमें, घर-घर अलख जगाऊँ ॥ साँवरिया तेरी ॥

ना मैं और किसीको देखूँ, ना तुमको दिखलाऊँ ।

मन-मन्दिरका बंदी करके, नैन-कपाट लगाऊँ ॥ साँवरिया तेरी ॥

—श्रीहोमवती देवी

महात्मा हरिदासजी

(लेखक—श्रीशिवनारायणजी 'योगी')

लगभग दो सौ वर्षकी बात है। श्रीवृन्दावनमें यमुनातटपर मनोरम स्थलीमें रामानन्दी वैष्णव महात्मा श्रीहरिदासजी महाराज अपने शिष्योंके साथ निवास करते थे। उस पुण्यभूमिकी शोभा विचित्र थी। मालती, माधवी आदि लताओंकी अनुपम सुगन्धित समीर बहा करती थी। प्रफुल्लित पुष्पोंपर भ्रमरोंके झुंड अपनी झङ्कारसे कुञ्जोंको मुखरित करते थे। कोयलोंकी कूक तथा तोते आदि पक्षियोंका कलरव सांसारिक प्रपञ्चोंसे मलिन मानसको निर्मल बना देते थे। मयूरोंका नृत्य भक्तोंको घनश्यामके प्रेममें नृत्य करनेके लिये उत्साहित करता था।

महात्मा हरिदासजी महाराज तेजस्वी-तपस्वी थे। उनके हृदयमें भगवत्प्रेमकी सरिता बहा करती थी। यदि किसी महान् तपस्वीके हृदयमें प्रेमाभृत प्रवाहित होता है तो खर्णमें सुगन्धके सदृश सुशोभित होता है। महात्माजीको अलौकिक प्रेम प्राप्त था। हृदयमें केवल प्राणाधारके दर्शनोकी ही प्रबल वासना थी। उठते-बैठते, सोते-जागते, भगवान्‌के विरहमें प्रेमाश्रु बहाया करते थे। उत्कट उत्कण्ठाने बढ़ते-बढ़ते विशाल स्वरूप धारण कर लिया था। रात्रिमें जागरण करके भगवद्दर्शनोंकी प्रतीक्षा करते हुए वे भगवान्‌से प्रार्थना किया करते थे।

एक दिन महात्माजी विरहातुर बैठे हुए थे। चाँदनी रात थी। सामने कालिन्दीकी तरङ्गें चन्द्रकिरणोंसे खेल रही थीं। बालुका चमचमा रही थी। चारों ओर प्रशान्त वायुमण्डल था। महात्माजीके हृदयमें सहसा दैन्यभावका स्फुरण हुआ। वे सोचने लगे कि 'अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके स्वामी, ब्रह्मादि देवशिरोमणियोंको नचानेवाली मायाके स्वामी, परिपूर्ण ब्रह्म जगदीश्वरका

दर्शन मुझ महापतित क्षुद्र प्राणीको किस प्रकार हो सकेगा ! हे दयामय ! मैं आपके योग्य नहीं।' उनके हृदयमें दीनताका मानो सागर ही उमड़ पड़ा। उस महासमुद्रमें महात्माजी डूब गये। विरहमें धिक्क होकर उन्होंने अपना सर्वस्व प्यारेको समर्पण कर दिया। दीनवत्सल, प्रेमसिन्धु, करुणानिधान भगवान् भी भक्तका विरह नहीं सह सके और तत्क्षण प्रकट हो गये। महात्माजी निनिमेष नेत्रोंसे उनका दर्शन करने लगे।

मनोहर मुसकानयुक्त मुखारविन्दपर घुँघराले केश छिटक रहे थे। मणियोंसे मण्डित मुकुट दिव्य वर्णके पुष्पोंसे सुशोभित था। कानोंमें कुण्डल झलमला रहे थे। नेत्रोंमें मनोहारिणी चितवन थी। पीताम्बर श्यामल सुकुमार अङ्गोंपर झलक रहा था। वनमाला चरणोंतक लटक रही थी। महात्माजी इस रूपमाधुरीमें निमग्न हो गये। भगवान्‌ने चेत कराया। अपना करकमल मस्तकपर फेर दिया। महात्माजीने चरणोंपर मस्तक रख दिया। भगवान्‌ अभृतमयी वाणीसे बोले—'तुम जगन्नाथपुरी जाओ ! इस वर्ष आषाढ़में विग्रह परिवर्तन होगा। पहला विग्रह तुम ले आओ, और इसी स्थलपर वृन्दावनमें स्थापित करो। मैं सब प्रकारसे तुम्हारी रक्षा करूँगा।'

आज्ञा देकर भगवान्‌ अन्तर्धान हो गये। महात्माजी वियोगसे व्याकुल होकर छटपटाने लगे। भगवान्‌की आज्ञाका स्मरण करके महात्माजीने धैर्य धारण किया और अपने सुयोग्य शिष्योंको साथ लेकर कीर्तन करते हुए जगन्नाथपुरीकी ओर चल दिये। बीहड़ वन, सर-सरिताएँ, पर्वत तथा कण्टकाकीर्ण मार्गको तय करते हुए चार महीनेमें महात्माजी जगन्नाथपुरी पहुँचे।

मार्गका घोर परिश्रम पुरीमें पदार्पण करते ही दूर हो गया और हृदयमें दिव्य आनन्द भर गया ।

श्रीजगन्नाथधाम जिसने नहीं देखा, उसने क्या देखा ? भगवान्ने अपना अचिन्त्य, अनन्त, ऐश्वर्य-सागर वहाँ प्रवाहित किया है । अब भी आषाढ़में जिस समय वहाँ रथयात्रा होती है, महाविशाल तीन रथ चलते-चलते जब ठहर जाते हैं, तो सहस्रों मनुष्योंका परिश्रम व्यर्थ हो जाता है । सभी प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं । तदनन्तर भक्तोंकी प्रार्थनासे जब वे स्वतः ही वेगके साथ चलते हैं, उस समय महान् आश्चर्य होता है । रथयात्राके समय लाखों नर-नारी एकत्रित होते हैं । प्रतिवर्ष यह महोत्सव बड़ी धूमधामसे सम्पन्न होता है । रथयात्राका महोत्सव तो था ही, दूसरे विग्रह-परिवर्तनका भी योग था । ३६ वर्षके पश्चात् जब दो आषाढ़ आते हैं, तब श्रीजगन्नाथजीके कलेवर बदले जाते हैं । बड़ी भारी प्रतिष्ठा होती है । यज्ञ होता है, वेदपाठ होता है और नाना प्रकारसे अभिषेक किया जाता है । इस प्रकार यह महोत्सवमें भी महोत्सव था । इस समय जगन्नाथपुरीमें करोड़ों यात्री दूर-दूर देशोंसे आये हुए हैं । आनन्दका समुद्र उमड़ रहा है ।

इसी समय हमारे चरित्रनायक महात्माजी भी वहाँ आ पहुँचे । अभिषेक होनेमें चार दिन शेष थे । महात्माजीने पुजारियोंके पास जाकर अपना परिचय दिया और भगवान्की आज्ञा उन्हें कह सुनायी । पुजारियोंने कहा—‘हमको कुछ भी अधिकार नहीं है । आप राजा साहबसे मिलें ।’ श्रीमहात्माजी राजा साहबसे मिलने गये । राजा साहबने महात्माजीका तेजोमय मुखमण्डल देखकर उन्हें उठकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया और प्रसन्न मनसे परिचय पूछकर आनेका कारण पूछा । महात्माजीने भगवान्की आज्ञा

सुना दी । राजा साहबने कहा—‘महाराज ! सर्वदासे यही नियम चला आया है कि प्रथम विग्रह समुद्रमें प्रवाहित कर दिये जाते हैं । आज हम नयी प्रणाली कैसे चला सकते हैं ? महाराज ! हम इस कार्यके लिये असमर्थ हैं । आपको भगवान्की आज्ञा हुई होगी, किन्तु हमको तो भगवान्की आज्ञा नहीं हुई । अतएव क्षमा करें ।’

महात्माजी—‘राजन् ! यदि विग्रह सागरमें प्रवाहित होंगे तो मेरा शरीर भी सागरमें प्रवाहित होगा । क्योंकि मैं अपनी इच्छासे नहीं आया हूँ ।’ राजा साहबने कुछ उत्तर नहीं दिया । महात्माजी समुद्रतटपर आकर प्रशान्त मनसे भगवान्का ध्यान करने लगे । अन्न-जल त्यागकर एकाग्र चित्तसे उसी भुवनमोहन रूपका स्मरण करने लगे, जिस रूपका वे प्रथम दर्शन कर चुके थे ।

अर्धरात्रिका समय है । राजा साहब शयन कर रहे हैं । राजा साहबने देखा, श्रीजगन्नाथजी प्रकट हुए । उनके मुखारविन्दपर कुछ क्रोध झलक रहा है । मेघके समान गम्भीर वाणीसे बोले—‘वे महात्माजी मेरी आज्ञासे ही आये हैं । तुम भक्तोंका तिरस्कार करते हो ! जाओ, उनसे क्षमा माँगो और उनकी आज्ञाका पालन करो । मेरा एक विग्रह अब वृन्दावनमें भी रहेगा ।’

राजा साहब अत्यन्त भयभीत हो गये और जाग पड़े । थर-थर काँपते हुए शय्यासे उठकर कर्मचारियों-को उन महात्माजीका पता लगानेके लिये रात्रिमें ही आज्ञा दी । बहुत दूँढ़-खोजके अनन्तर पता लग गया । राजा साहब समुद्रतटपर उसी समय जाकर महात्माजी-के चरणोंमें गिर पड़े और बारंबार क्षमा-याचना करने लगे ।

प्रातःकाल धूमधामसे राजा साहबने महात्माजीका

पूजन किया। जगन्नाथपुरीमें यह समाचार बिजलीकी भौंति चारों ओर फैल गया। महात्माजीके दर्शनार्थ दौड़कर लोग आने लगे। उस समय महोत्सवमें एक अपूर्व आनन्दोत्साह छा गया।

अभिषेकके अनन्तर राजा साहबने एक विशाल रथमें श्रीजगन्नाथजी, श्रीबलदाऊजी, श्रीसुभद्राजीको विराजमान कराया। धन-धान्य तथा सेनाके साथ महात्माजीको विदा किया। रथके सहित धूमधामसे कीर्तन करते हुए महात्माजीने कई महीनोंमें वृन्दावनमें पदार्पण किया। जिस स्थानपर स्वयं भजन करते थे उसी सुरम्य स्थानपर एक सुन्दर मन्दिर बनवाकर महात्माजीने वे विग्रह स्थापित किये। वृन्दावनमें वही दिव्य स्थान, वही दिव्य विग्रह, वही सुन्दर मन्दिर आज भी वर्तमान है। सामने यमुनाजी बह रही हैं। नीचे घाट बना हुआ है, जिसे 'जगन्नाथ घाट' कहते हैं। आज भी इस स्थानपर अपूर्व दिव्यता विराज रही है। भजनमें स्वाभाविक मन लगता है। शान्तिका साम्राज्य-सा छाया हुआ है।

वृन्दावनमें श्रीजगन्नाथजी भक्तोंको आज भी दिव्य अनुभव, दिव्य चमत्कार दिखाया करते हैं। अभी तीन वर्ष पूर्व वृद्धा माता श्रीरामजी देवी श्रीजगन्नाथजीकी सेवा करती थीं। उनका दर्शन जिन्होंने किया है, वे जानते हैं कि माताजी कैसी तपस्विनी, तेजस्विनी और प्रेमकी मूर्ति थीं। उनको कई बार भगवान्के दर्शन हुए थे। निरन्तर उनको भगवान्की सेवामें ही सुख प्राप्त होता था। उनके समयकी कुछ सच्ची घटनाएँ हम नीचे उद्धृत करते हैं—

(१) एक बार माताजी भगवान्को पुष्प और तुलसी चढ़ा रही थीं। सहसा श्रीजगन्नाथजीका विग्रह तेजोमय हो गया और विग्रहसे आसोच्छ्वास होता हुआ दिखायी दिया। भगवान्के आसकी वायु स्पर्श

करके वे घबड़ा गयीं तथा मूर्छित होकर गिर पड़ीं। आध घंटेके पश्चात् उनको बाह्य ज्ञान हुआ। यह घटना ११ वर्ष पहलेकी है।

(२) एक बार माताजी हरिद्वार गयी हुई थीं। मन्दिरमें पुजारीने भोग लगाया। माताजी उस समय हरिद्वारमें ध्यान कर रही थीं। ध्यानमें जगन्नाथजी प्रकट हुए और वह थाल सम्मुख दिखाकर बोले—'आज भोजन मैंने नहीं पाया है। आज अमुक त्रुटि रह गयी है।' माताजीको व्याकुलता हुई और उन्होंने तत्क्षण पुजारीजीको पत्र लिखा। उस दिन जो-जो पदार्थ भोगमें लगाये गये थे वे लिखे और त्रुटि भी लिख भेजी। उस पत्रकी यहाँ सब बातें सत्य पाकर सभीको महान् आश्चर्य हुआ। उस दिनसे सेवामें अत्यन्त सावधानी रक्खी जाने लगी। यह घटना ६ वर्ष पूर्वकी है।

(३) एक बार मन्दिरमें भण्डारा हो रहा था। एक बड़े पात्रमें यमुनाजीसे जल आया और उसी पात्रमें दाल चढ़ा दी गयी। अच्छी प्रकार जब दाल बन गयी तो पात्र सहसा उलट पड़ा और उसमेंसे एक जीवित मछली निकली। वह छोटी-सी मछली जलती हुई दालमें कैसे जीवित रही? यह एक अद्भुत घटना लगभग २० वर्ष पहलेकी है।

(४) मन्दिरके पास एक कुआँ बना हुआ है। उस कुएँमें लगभग बीस हाथ जल भरा हुआ था। एक यात्री जल भरने गया, वह अकस्मात् जल भरते हुए गिर पड़ा। उसने जगन्नाथजीका ध्यान किया। ध्यान करते ही उसे एक प्रकाश दिखायी दिया और कुएँमें जल एक हाथ ही रह गया। वह आनन्दसे कुएँमें खड़ा हो गया। उसे निकाला गया तो वह हँस रहा था, चोटका नामोनिशान भी न था। उसके निकलते ही पुनः जलमें बीस हाथ

जल हो गया। यह घटना लगभग २५ वर्ष पहलेकी है।

(५) एक बार मन्दिरमें एक अत्यन्त मनोहर छड़ी मिली। उसकी चमक विलक्षण थी। वह न लोहेकी प्रतीत होती थी, न काठकी, न पीतलकी। वह दिव्य ही थी। उसको पाकर उसकी पूजा होने लगी। जिस दिनसे वह आयी उसी दिनसे मन्दिरमें आनन्दकी लहर-सी आने लगी। भक्तोंको दिव्य अनुभव होने लगे। धन-धान्यसे भी आश्रम परिपूर्ण हो गया। एक दिन माताजीने उसका यमुनातट पर पूजन किया। जनके अनन्तर जिस समय उसे रक्खा, उसी समय वह छड़ी जैसे मनुष्य चलता है इस प्रकार जाकर यमुनामें विलीन हो गयी। यह घटना लगभग १५ वर्ष पहलेकी है।

(६) एक बार आषाढ़में रथयात्राके दिन सन्ध्या-समय आरती होनेवाली थी। अधियारा हो चुका था। उसी समय यमुनातटकी ओरसे एक सुकुमार सौबला बालक आया। उसके कपोलोंपर बाल बिखर रहे थे। उसका सौन्दर्य देखकर माताजीने पूछा—‘भैया, तुम कहाँ रहते हो?’ बालकने मुस्कराकर कहा—‘यमुनाकिनारे।’ माताजीने फिर पूछा—‘तुम्हारे पिताका क्या नाम है?’ बालकने हँसकर बात टाल दी। पुजारी मन्दिरमें था, माताजीने पुजारीसे कहा—‘प्रसाद लाकर इनको दीजिये।’ जिस समय पुजारी प्रसाद लाया, उसी क्षण वह बालक अन्तर्धान हो गया। ये सब घटनाएँ जिन्होंने आँखोंसे देखी हैं वे भक्तगण अब भी वृन्दावनमें विद्यमान हैं। यह घटना लगभग १६ वर्ष पूर्वकी है।



अन्न-दोष

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, एम० ए०)

संसारके बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ताओंका मत है कि कर्मका सिद्धान्त अत्यन्त गहन तथा दुर्विज्ञेय तो है ही, साथ ही वह अटल भी है। ऐसे ही और भी सिद्धान्त हैं, जिनका संस्थापन बहुत प्राचीनकालमें हमारे ऋषि-महर्षियोंने किया था और जो युग-युगके अनुभवसे सर्वथा निर्भ्रान्त सिद्ध हुए हैं। दुःखकी बात है कि आधुनिक सम्यता, जो अपने क्षणिक प्रकाशसे जगत्भरको चौंधिया रही है, दुराग्रहवश हमारे प्राचीन सिद्धान्तोंपर गम्भीर एवं निष्पक्ष विचार करनेके लिये तैयार नहीं है, यद्यपि उसीको आगे चलकर आँखें खुलनेपर उन सिद्धान्तोंकी सत्यता स्वीकार करनी पड़ती है। इसीलिये यह कहा जाता है कि जहाँ पाश्चात्योंका ज्ञान समाप्त हो जाता है, पौरव्योंका ज्ञान वहाँसे प्रारम्भ होता है। गीताके सोलहवें

अध्यायको सामने रखकर यदि हम विचार करें तो यह बात हमें स्पष्ट हो जायगी कि वर्तमान सम्यता आसुरीवृत्तिका लीलास्थल बन रही है। पारस्परिक ईर्ष्या, स्वार्थप्रियता, जड-पूजा तथा करोड़ों दीन-हीन पददलितोंके प्रति कठोर उपेक्षाका भाव आदिके दारुण दृश्य किसी भी ‘सम्य’ और ‘सुसंस्कृत’ देशमें देख लीजिये—जिन्हें देखकर आप अनुमान लगा सकेंगे कि यह आसुरी सम्यता हमें किस भयानक सत्यानाशकी ओर लिये जा रही है।

हमारी प्राचीन संस्कृतिके लिये यह कठिन परीक्षाका समय है। हमारा यह कर्तव्य है कि अपने ही हितके लिये एक बार हम अपने प्राचीन आचारों एवं रीति-रिवाजोंपर ध्यान दें। अब भी हमारे लिये निराश होनेकी कोई बात नहीं है। हम

भारतकी सन्तानोंको भगवान्ने ऐसी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियाँ दी हैं, जिनके लिये देवता भी तरसते हैं। हममेंसे जिन लोगोंने प्राचीन ऋषि-महर्षियोंद्वारा निर्णीत सिद्धान्तोंको जीवनमें आजमाया है, उनमेंसे कइयोंने जीवनकी समस्याको हल कर लिया है और जीवनका सार-तत्त्व प्राप्त कर लिया है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

इस लेखमें हम भोजनके सम्बन्धमें कुछ विचार करेंगे। स्थानके संकोचसे हम बहुत विस्तारमें नहीं जायेंगे। जिन्हें इस विषयकी ओर विशेष अभिरुचि हो, उन्हें इसपर विचार करनेके लिये प्राचीन ग्रन्थोंमें पर्याप्त सामग्री मिल सकती है।

भोजनकी पवित्रताके सम्बन्धमें सबसे मुख्य बात यही है कि वह न्यायोपार्जित पैसेका हो। यही कारण है कि कुछ लोग 'अपरिग्रह' का नियम ले लेते हैं, वे किसीसे कुछ भी ग्रहण नहीं करते। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अन्यायके पैसेसे खरीदा हुआ अन्न या किसी ऐसे पुरुषका अन्न, जो स्वयं सच्चा और ईमानदार नहीं है, भरसक कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये।

प्रसंगवश अन्यायोपार्जित धन अथवा घूसका भ्रम भी यहाँ आ जाता है। जीवनमें सबसे बड़ा पाप यही है कि मनुष्य अन्यायद्वारा धनका उपार्जन करे या घूस ले। जो इन प्रलोभनोंके शिकार बन जाते हैं, वे यह नहीं जानते कि वे अपने हों हितकी सदाके लिये हानि कर रहे हैं। अन्यायोपार्जित धन ठहरता नहीं। वह जैसे आता है, वैसे ही चला भी जाता है। जो वस्तु अनायास प्राप्त होती है, वह अनायास ही खो भी जाती है, परन्तु इसका परिणाम भयानक होता है। जिसे ऐसे पैसोंकी चाट और चसका लग जाता है, वह खामाबिक ही अनाप-शनाप खर्च

करने लगता है। और जब ऐसी आमदनीका रास्ता बंद हो जाता है तो उसकी तबाही आ जाती है। हम सभी ऐसे आदमियोंको जानते हैं जो एक बार अन्यायका पैसा पाकर खूब चमके, परन्तु चमके सदाके लिये बुझ जानेके लिये। उनमेंसे बहुतोंका अन्त तो महान् दुःखदायी होता है।

जैसा अन्न वैसा मन—यह एक वैज्ञानिक सत्य है। तान्त्रिक साधना करनेवाले इस बातको जानते हैं कि उपासनाके समय हम जिस प्रकारके आसनपर बैठते हैं, उसका हमारे चित्तपर कैसा प्रभाव पड़ता है। व्याघ्रचर्मपर बैठकर जप करनेसे चित्तपर कुछ और ही प्रभाव पड़ेगा और मृगचर्मपर बैठकर करनेसे कुछ और। इसी प्रकार तान्त्रिक दीक्षामें भी शिष्यको दीक्षा लेनेके पूर्व कई दिनतक उपवास करना पड़ता है और तब किसी एक ही प्रकारका अन्न जो गुरु बतलावे खाना पड़ता है तथा एक विशेष स्थानपर विशेष शैलीसे सोना पड़ता है। इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है कि उसके इस समयके स्वप्नोंपर विशेष ध्यान दिया जाता है और उन स्वप्नोंके आधारपर यह निश्चय किया जाता है कि उसके लिये कौन-सा मन्त्र उपयुक्त होगा।

अन्यायोपार्जित धनसे जो अन्न प्राप्त होता है, वह रक्तमें सना हुआ अन्न है—

भुक्षीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्।

श्राद्धकर्ममें क्या-क्या होता है, इससे जो भभीभाँति परिचित हैं, वे जानते हैं कि श्राद्धका अन्न खाना आध्यात्मिक दृष्टिसे साधारण बात नहीं है। शास्त्रोंमें यह लिखा है कि श्राद्धका अन्न खा लेनेपर ब्राह्मण इतनी माला गायत्रीका जप करे, तब वह उस अन्नके दोषसे छूट सकता है। इसी प्रकार शनि, राहु और केतु आदि ग्रहोंको शान्त करनेके लिये जो दान दिया जाता है, उसे ग्रहण करना भी खिलवाड़ नहीं

है। यह तो एक प्रकारसे दाताके सारे पापों और कष्टोंका बोझा अपने सिर ओढ़ना है। मुझे कई ऐसे उदाहरण मालूम हैं जिनमें ऐसे दान लेनेवालोंका महान् अनिष्ट हो गया है। यहाँ उनके सम्बन्धमें विस्तारपूर्वक लिखनेका अवकाश नहीं है।

हमारे धर्मशास्त्रोंमें लिखा है कि नित्य प्रातः-सायं हमें अपने माता-पिताके चरणोंमें मस्तक टेककर प्रणाम करना चाहिये। परन्तु वे बीमार हों तो उन्हें दूरसे ही हाथ जोड़कर प्रणाम कर लेना चाहिये। यह व्यवस्था एक-दूसरेके स्पर्शसे होनेवाले सूक्ष्म परमाणुओंके आदान-प्रदानके नियमोंके आधारपर की गयी है। इसीलिये सबसे हाथ मिलाना या सबको गले लगाना हानिकार सिद्ध हो सकता है। जिन्होंने हैगार्ड (Haggard) का 'आयेशा' उपन्यास पढ़ा है, उन्हें स्मरण होगा कि जब लियो विन्सीने, जो इस मर्यलोकका ही एक प्राणी था, आयेशाका—जो देवलोककी आत्मा थी अथवा आध्यात्मिक दृष्टिसे बहुत उन्नत थी—आलिङ्गन किया तो उसी समय उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। इसी विषयपर अच्छी तरहसे विचार करनेपर 'स्वयंपाक'—अपने हाथसे भोजन बनानेके सिद्धान्तकी भी पुष्टि होती है। स्वयंपाकमें जो आनन्द मिलता है, वह तो दूसरी ही बात है। यदि कोई बुरे आचरणका मनुष्य भोजन बनाता है तो उसके शरीर और मनकी गंदगी भोजनमें अवश्य प्रवेश करेगी ही, इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं है। सुननेमें तो यह बात अजीब-सी मालूम होगी, परन्तु इसे हम परीक्षा करके देख सकते हैं कि किसी हत्यारेके हाथका बना हुआ भोजन करनेसे मनुष्यको हत्याके स्वप्न आने लगेंगे।

दृष्टि-दोषकी बात भी इससे मिलती-जुलती ही है। यह बात निर्विवाद है कि जिस समय आप भोजन कर रहे हैं, उस समय कोई भूखा आदमी लोभभरी दृष्टिसे

आपको खाते हुए देखे तो आप उस अन्नको कठिन्ता-से पचा सकेंगे। प्रायः रसोइये यह नहीं चाहते कि अच्छी वस्तु सारी-की-सारी उनके मालिक ही खा जायें। परिणाम यह होता है कि उनकी दूषित दृष्टि उस पदार्थपर पड़ जाती है। कई बार हम देखते हैं कि कोई पूर्णतः स्वस्थ मनुष्य सात्त्विक एवं हितकर भोजन करके उठता है और उठते ही उसे कै हो जाती है। प्रत्यक्षमें इसका कोई कारण नहीं दिखायी देता, परन्तु कारण तो ऊपर लिखा ही जा चुका है। इसलिये सबसे सुरक्षित मार्ग यही है कि भोजन बनाने और परोसनेका कार्य हमारी माता, बहिन, स्त्री या लड़कीके ही जिम्मे रक्खा जाय; उनसे हमें दृष्टि-दोषका भय नहीं होगा। दूसरे सम्बन्धी भी हमारे लिये भोजन बना और परोस सकते हैं; परन्तु माँ, स्त्री और कन्या तथा बहिनको ही इस कामके लिये सबसे उत्तम माना गया है। ये जब परोसेंगी तो यह चाहेंगी कि आप उत्तम-से-उत्तम भोजनका अधिक-से-अधिक अंश ग्रहण करें; यदि आप उनका भी कुछ अंश ले लें तो भी वे प्रसन्न ही होंगी। इसीलिये इनके हाथसे बना हुआ तथा परोसा हुआ भोजन अधिक प्राणपोषक, स्वास्थ्य-वर्द्धक और बलदायी होता है। माँके हाथका भोजन मिल जाय तब तो पूछना ही क्या? वह तो साक्षात् अमृत ही होता है। वे लोग वस्तुतः भाग्यशाली हैं, जिन्हें माँके हाथका बनाया हुआ भोजन मिलता है, और इसका रस वे ही जानते हैं जिन्हें वह अमृत प्राप्त है।

हमारे शास्त्र यह कहते हैं कि भोजनका कुछ अंश पहले अग्निको तथा अन्य देवताओंको अर्पण करना चाहिये। इस विषयका तात्त्विक विवेचन करनेका यह स्थल नहीं है। संक्षेपमें इतना ही कहना अलम् होगा कि अग्नि तथा अन्य देवताओंको भोजनका कुछ अंश देना वस्तुतः हमारे लिये, हमारे शरीर तथा मनके लिये परम लाभदायक है। जो ऐसा नहीं करते वे नाना

प्रकारकी बीमारियों तथा अन्य प्रकारके कष्टोंको निमन्त्रण देते हैं ।

भोजनकी पवित्रताके सम्बन्धमें ऊपर जितनी भी बातें कही गयी हैं, उन सबका ध्यान रखते हुए भोजन करनेवालेको यह भावना करनी चाहिये कि हम जो कुछ खाते हैं, वह हमारे शरीरकी रचनाके अन्तर्भूत असंख्य प्राणियोंकी तृप्तिके लिये आहुतिरूप है । वास्तवमें भोजनके एक-एक घ्राससे हम अपने पञ्च प्राणोंको—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समानको—आहुति देते हैं अथवा इसी बातको दूसरे ढंगसे समझना चाहें तो हम यों समझ सकते हैं कि जो अन्न हम ग्रहण करते हैं वह तो है ब्रह्मा, उसका रस है विष्णु और उसे पचानेवाला है शिव—

अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः ।

एवं ध्यात्वा तु यो भुंक्ते सोऽन्नदोषैर्न लिप्यते ॥

संक्षेपमें कहनेका अभिप्राय यह है कि हमें ऐसे ही पैसेसे खरीदा हुआ अन्न खाना चाहिये, जो हमने स्वयं न्यायसे अर्जन किया हो या जो हमें किसी भले और सच्चे आदमीसे प्राप्त हुआ हो । भोजन या तो हम स्वयं अपने हाथसे बनावें या जिनका आचार-विचार ठीक हो वे बनावें । जो हमारा वस्तुतः प्रेमी और शुभचिन्तक हो, वही हमें भोजन परोसे और भोजन करते समय हमारे पास वे ही लोग रहें जिनकी हमारे ऊपर शुभदृष्टि है । भोजन, जहाँतक बने, सर्वथा एकान्तमें ही करना चाहिये और भोजन करते समय बोलना ठीक नहीं । भोजनके समय विचारोंको संयत रखना चाहिये, और क्रोध, ईर्ष्या या प्रतिशोध अथवा बदला लेनेके भावको मनमें नहीं आने देना चाहिये । खाते समय यदि आप ऐसे भावोंको मनमें आने देंगे तो यह निश्चय जान रखिये—उस अन्नसे आपका जो मन बनेगा, उसमें वैसे ही बुरे भाव भरे रहेंगे और इससे आपकी महान् क्षति होगी । भोजन करते समय

चित्तको सर्वथा शान्त और प्रसन्न रखना चाहिये । भोजन करते समय आपको कोई ऐसा संवाद न सुनावे, जिससे आपको चिन्ता अथवा उद्वेग हो—इसका भी ध्यान रहे । जो लोग फोटोग्राफी जानते हैं, उन्हें पता है कि प्लेटको खोलनेमें कितनी सावधानी रखनी पड़ती है । संतानके भावी कल्याणके लिये गर्भाधानके समय भी ऐसी ही सावधानी रखनी चाहिये और हृदयको पवित्र भावोंसे भरे रहना चाहिये । भोजनके समय भी ऐसी ही सावधानीकी आवश्यकता है । यदि प्लेट खोलनेमें गड़बड़ी हो गयी तो चित्र ही खराब हो जायगा । इसी प्रकार यदि भोजन करते समय तुम्हारी चित्तवृत्ति शान्त और सुस्थिर न रही तो यह समझ लो कि तुम्हारे स्वास्थ्य तथा मनपर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा ही । जैसा करोगे वैसा पाओगे, यह सिद्धान्त सभी दिशाओंमें सही है ।

भोजनकी सफाई आदिके सम्बन्धमें, जिसपर आधुनिक विज्ञान इतना अधिक जोर देता है, हमने यहाँ कुछ भी नहीं लिखा है । उदाहरणके लिये—बासी भोजन स्वास्थ्यके लिये हानिकार है; अधिक मिर्च-मसाला पाचनमें गड़बड़ी पैदा कर देता है; भोजन ट्रैस-ट्रैसकर नहीं करना चाहिये; भोजनके समय जल जितना कम हो सके लेना चाहिये; एक ही थालमें दो या अधिक आदमियोंका एक साथ भोजन करना हानिकार है । चलते-फिरते भोजन नहीं करना चाहिये; एक ही पात्रसे कई आदमियोंको जल नहीं पीना चाहिये, जबतक वह मिट्टीसे खूब साफ न कर लिया जाय । और जिस बर्तनमें आप भोजन कर रहे हैं, वह किस धातुका बना हुआ है—इसपर भी पूरा ध्यान रखना चाहिये ।

गीताके सत्रहवें अध्यायके श्लोक ७से १० तकमें भोजनके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें आ गयी हैं और प्रत्येक मनुष्यको अपना भोजन तदनुकूल ही बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

हानि क्या ?

कहानी

(लेखक—श्री 'चक्र')

अवधूतजीके इस विशाल मठ एवं वैभवका भी एक इतिहास है । आज ही प्रथम बार वे ऐसे विरक्त नहीं हुए । उनका प्रारम्भिक जीवन भी ऐसा ही था । जब वे गुरुसे उपदेश ग्रहणकर वहाँसे विदा हुए, उस समय उनका वैराग्य अत्यन्त तीव्र था । हाथ ही उनके पात्र थे और कौपीनमात्र उनकी सम्पत्ति थी । विना भौंगे जो कुछ मिल जाता वही खा लेते । रात्रिमें चाहे जिस वृक्षके नीचे भूमिपर ही सो रहते ।

आज जहाँ अपने गाँवके पास विशाल मठ है, वहाँ उस समय जंगल था । ठीक मठके स्थानपर एक बबूल, एक नीम और एक शीशमका पेड़ था । सन्ध्याके पश्चात् तो इधर आते डर लगता था । दिनमें चरवाहे यहाँ पशु चराया करते थे ।

बीस वर्ष पहलेकी बात है, अवधूतजी कहींसे आकर उसी नीमके नीचे बैठ गये । गोपालोंके द्वारा गाँवमें समाचार पहुँचा, हमने भोजन लाकर उन्हें भोजन कराया । दो-चार और भी भक्तजन आ गये । हमलोगोंने जितने भी धार्मिक प्रश्न किये, अवधूतजीने सबका बड़ा सुन्दर उत्तर दिया । हमें उनपर बड़ी श्रद्धा हो गयी । सब लोगोंने उनसे कुछ दिन यहीं विराजनेकी प्रार्थना की । पहले तो उन्होंने कह दिया 'मैं तीन दिनसे अधिक एक स्थानपर नहीं ठहरता ।' पर फिर लोगोंके बहुत आग्रह करनेपर स्वीकार करते हुए कहा—'अच्छा, यदि तुमलोगोंकी इच्छा है तो ऐसा ही सही । इसमें हानि ही क्या है ?'

उस समय चौमासा लगा ही था । एक-दो दिन बाद ही बादल दिखायी देने लगे । हमलोगोंसे यह नहीं

देखा जाता था कि महात्माजी वर्षामें खुले स्थानमें रहें । बहुत आग्रह करनेपर भी जब उन्होंने गाँवमें चलना स्वीकार नहीं किया, तो हमलोगोंने वही एक फूसकी झोपड़ी ढाल देनेकी प्रार्थना की । बहुत आग्रह करनेपर 'हानि ही क्या है ?' कहकर महात्माजीने आज्ञा दे दी ।

(२)

वर्षा बीत गयी । झोपड़ीमें आग्रह करके वर्षाके कीड़ोंसे बचनेके लिये एक लकड़ीका तख्ता ढाल दिया गया था । गाँवमेंसे सबके घरसे एक-एक दिन भिक्षा आ जाती थी । मैंने आग्रह किया और सन्ध्याको दूध लेना भी स्वीकार हो गया ।

सर्दीमें अवधूतजी नंगे सिकुड़ते थे । शौचके लिये भी पात्र नहीं था । भक्तोंने आग्रह किया । 'हानि ही क्या है ?' दो कम्बल और एक कमण्डलु स्वीकार हो गये । कौपीनके अतिरिक्त किसीने एक चदर भी दे दी ।

सहसा एक दिन झोपड़ीमें आग लगी और बाबाजीकी कुटिया जल गयी । चदर, कौपीन, कम्बल सब जल गये । हम सबने सोचा कि फूसकी कुटियामें तो यह डर बना ही रहेगा । कुछ लोग एकत्र हुए । अवधूतजीसे आग्रह करके आज्ञा ले ली गयी । कच्ची कुटिया बन गयी । जला हुआ सामान फिर आ गया । पर कच्ची कुटियामें भी लीपने-पोतनेका झगड़ा था । वर्षामें वह आधी गिर भी गयी । अतः चंदा करके सबने उसे वर्षाके पश्चात् ही पक्की बना दिया ।

अवधूतजीकी प्रसिद्धि दूर-दूरतक हो गयी थी ।

बड़े-बड़े लोग उनके दर्शन करने आया करते थे। फल-फूलकी कुटियामें ढेरी लगी रहा करती थी। कम्बल फटा देख किसीने शाल लाकर रख दिये। अब बाबाजी बहुत अस्वीकार भी नहीं करते थे। आग्रह करनेपर कह देते 'रख दो, हानि ही क्या है?' आवश्यकतावश कुटियामें थोड़े-से वस्त्र, पात्र और बाबाजीकी रुचि देखकर पुस्तकें भी रख दी गयीं।

भक्तोंने कुटियाके चारों ओर फुलवारी लगा दी। पशु जब फूलोंको नष्ट करने लगे तो एक घेरा बना दिया गया। एक माली भी अन्तमें रखना पड़ा। कुटियामें पुस्तकोंके बढ़ जानेसे आलमारी बनानी पड़ी। जब सामान बढ़ गया तो उसके लिये एक अलग कुटिया बनवा दी गयी। मालीके लिये भी एक कच्ची झोंपड़ी डाली गयी।

एक दिन बाबाजी एक गायको प्रेमसे पुचकार रहे थे। गायका स्वामी वहीं पहुँच गया। उसने गाय बाबाजीको भेंट कर दी। गायके लिये गोशाला बनी। एक नौकर भी उसकी सेवाके लिये रखना पड़ा। गायके चारेके लिये एक भक्तने कुछ खेत भी बाबाजीके नामसे लगा दिये। जमींदारने कुटियाके आसपासका पूरा वन बाबाजीको दे दिया।

धीरे-धीरे इसी क्रमसे यह विशाल मठ बना। इतनी भूमि मठके नामसे लगी। भक्तोंकी पूजाके लिये मन्दिर बना। कुआँ बना, कथामवन बना। थोड़े और हाथी भी आ गये। बाबाजी अवधूतसे मठाधीश हो गये।

(३)

बाबाजी न तो अब पहले-जैसे सरल थे और न त्यागी। मठाधीश होनेके साथ उनका स्वभाव भी वैसा ही बन गया। अब वे उसीके घर भिक्षा करते, जहाँ पूरी दक्षिणा मिलनेकी आशा होती। मठमें भी धनियोंका सम्मान होने लगा। दीनोंकी वहाँ पूछ नहीं रह गयी।

तितिक्षा अब अवधूतजीसे कोसों दूर थी। उनका पलंग अब राजाओंके समान सजता था। जहाँ जाते वहीं सेवक उनके बैठनेके लिये गलीचा साथ ले जाता। रेशमी वस्त्र ही पहनते थे। पैरोंमें बहुमूल्य जूता रहता था। मठसे बाहर निकलते तो हाथीपर। सेवक साथमें माला लिये चलते थे। पूरा राजाओं-जैसा ठाढ़ हो गया।

कोई किसीका पशु यदि भूलकर भी मठके किसी खेत या बाटिकामें पहुँच जाता तो वह तुरंत हवालात भेज दिया जाता। किसीके रोने-गिड़गिड़ानेका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था। हाँ, यदि कोई सम्पन्न पुरुष कह दे तो दूसरी बात।

अवधूतजी विद्वान् तो थे ही। दूर-दूर जाकर कथा एवं उपदेशोंसे उन्होंने बहुत-सा द्रव्य एकत्र कर लिया। बड़े-बड़े लोग उनके शिष्य हो गये। उनका बहुत सम्मान होने लगा। उनका वैभव, ऐश्वर्य, सम्मान तो तुम देख ही चुके हो। इस विषयमें बहुत नहीं कहना चाहता।

अवधूतजीको आज इस नग्न अवधूतवेशमें हरिद्वार गंगा-किनारे देखकर तुम्हें आश्चर्य होगा। पर उनकी इस परिवर्तित दशाका भी एक सुन्दर इतिहास है।

अवधूतजीने रुपयोंका लेन-देन भी आरम्भ कर दिया था। अबसर पड़नेपर गाँवके लोग उनसे रसीद लिखकर रुपया लेते और सूदके साथ वापिस कर देते थे। अपनी लड़कीके ब्याहके लिये राममनोहरने उनसे दो सौ रुपया लिया। उसे एकमात्र खेतीका ही तो भरोसा था। संयोगसे दूसरे साल उसके गन्नेमें आग लग गयी। अनाजकी फसल अच्छी नहीं हुई। वह न तो बाबाजीका रुपया दे सका और न सूद ही।

उसने बाबाजीसे बहुत अनुनय-विनय की, पर इन्होंने अपने मैनेजरपर ही सब छोड़ दिया। मैनेजर

कुछ भेंट-पूजा चाहता था, जो उसे मिल न सकी । उसने दावा कर दिया । न्यायालयने बाबाजीके पक्षमें निर्णय दे दिया । अन्तमें उन्हीं रुपयोंके बदले मैनेजरने राममनोहरके हल, बैल तथा घर भी कुर्क करा लिया । वह बेचारा बिना घर-द्वारका हो गया ।

(४)

जाड़ेके दिनोंमें रोता-चिल्लाता स्त्री और बच्चोंके साथ राममनोहर मठपर पहुँचा । मठके द्वारपालोंने उसे भीतर नहीं जाने दिया । संयोगवश उसी समय अवधूतजी बाहर निकले । राममनोहरने पृथ्वीपर मस्तक टेककर उन्हें प्रणाम किया । अपने हृदयकी उजाला दबाकर वह बोला—‘महाराजजी ! यदि मैं आपका रुपया मारना चाहता रहा होऊँ तो मुझसे भगवान् समझेंगे । साधुके साथ मुझे उलझना तो है नहीं । मेरा मकान और सामान लेकर आप सुखी हों । मुझे अपनी चिन्ता तो है नहीं; पर इस जाड़ेमें ये नन्हे-नन्हे बच्चे अवधूत बने मारे-मारे फिरेंगे, यही दुःख है । अच्छा जैसा इनका प्रारब्ध होगा भोगेंगे । केवल दर्शन करने आया था । अब मातृभूमिसे निर्वासित हो रहा हूँ, फिर सम्भवतः दर्शन न हों ।’

अश्रुवर्षा करते हुए उसने पुनः प्रणाम किया और मुड़ चला । काष्ठकी भाँति बाबाजी स्तम्भित खड़े थे । उन्होंने भरे कण्ठसे पुकारा ‘भैया राममनोहर !’ वह लौट आया । बाबाजीका हृदय बदल चुका था । एक सेवकने आज्ञा पाकर कागज-कलम लाकर दिया । बाबाजीने कुछ लिखकर उसी सेवकको दे दिया और राममनोहरसे बोले—‘भाई ! तुम्हीं लोगोंका दिया हुआ तो मेरा यह सब वैभव है । रुपया मेरा कैसा ? जाओ, अपने घर लौटो । मैनेजर नहीं रोकेगा, मेरा तुमपर कोई ऋण नहीं ।’ वह लौटता तो न था, पर हम सबने समझाकर उसे लौटा दिया ।

बाबाजी वहीं बैठ गये । उनका चेहरा उदास हो रहा था । वे अपने आप कहने लगे—‘गुरुजाने तुझे पहले ही कहा था कि ‘मायाका प्रलोभन बड़ा भयंकर होता है । तनिक-सी ढिलाईमें सब चौपट । ‘मैं हूँ’—इस ‘अहं’से ही तो इतना बड़ा संसार बन जाता है; फिर जहाँ संसार है, वहाँ पतनको आते कितनी देर । अतः बहुत बचकर रहना । तनिक भी प्रमाद मत करना ।’ पर तूने उन वचनोंपर तनिक भी ध्यान नहीं दिया । तू अपने मनके धोखेमें आकर उसीपर विश्वास करता रहा । अब देख कि तू कहाँसे कहाँ पहुँच गया । तनिक-सी ढिलाई करके नियमको शिथिल करनेमें क्या हानि है, यह देख लिया ? क्या अब तू पुनः उसी स्थितिको प्राप्त हो सकेगा ?

अच्छा ! चल, अब भी सम्हल जा ।’ बाबाजी उदास मनसे मठमें लौट आये ।

(५)

दूसरे ही दिन गाँवमें यह समाचार फैल गया कि अवधूतजी रात्रिमें ही मठसे कहीं चुपचाप चले गये । अपने पहननेके वस्त्र भी वे छोड़ गये थे । न तो किसीको पता था और न कोई साथ गया था । पलंगपर एक कागज मिला, जिसमें लिखा था ‘मैं अवधूत हूँ; इतने दिन भ्रष्ट हो गया था, अब पुनः अपने पथपर जा रहा हूँ । मेरे पथमें विघ्न डालकर पापभागी बननेका कोई प्रयत्न न करे । मठकी सम्पत्ति दीनोंमें बाँट दी जावे । सबके कर्ज मैंने छोड़ दिये । भूमि और मठकी स्थायी सम्पत्ति धनहीन लोगोंकी चिकित्साके काममें आये ।’

आज तीन महीनेके बाद इस वेशमें अवधूतजीके द्वारदारमें दर्शन हुए हैं । आओ, उन्हें प्रणाम कर लें । मैंने केशवके साथ जाकर अवधूतजीको प्रणाम किया । पहचानकर वे मुसकुराये और ‘हरिः ॐ’ कहकर एक ओर चलते बने ।

उलहना

(१)

यदुनन्दन हमसे रुठे हैं, रो-रोकर प्राण बुलाते हैं ।
करुणानिधान करुणासागर कानोंपर वात उड़ते हैं ॥
हम जग-जीवन जीवन-धनको पड़-पड़कर पाँव मनाते हैं ।
कुछ बात है लेकिन जिद्दी-सी, वह और विगड़ते जाते हैं ॥
अच्छा रुठो ! जो होना हो, प्रभुकी इच्छा अनुसार रहे ।
दीनोंके करुणा-क्रन्दनका, लेकिन कुछ सोच-विचार रहे ॥

(२)

सुखदायक है, अति उत्तम है, दासोंको सदा तरसाया करो ।
प्राणेश्वर ! जाओ, ब्रजभरमें छलिया, चितचोर कहाया करो ॥
संकीर्ण घरोंमें ग्वालोंके, हृदयेश्वर ! रंग रचाया करो ।
अबलाओंका माखन हरकर, सर्वेश्वर ! नाम कमाया करो ॥
नाता दूटा, झगड़ा छूटा, क्यों सिरपै किसीका भार रहे ।
क्या होना है—दिखला देंगे, यदि जीवित किसी प्रकार रहे ॥

(३)

नंगे पग दौड़े आते हो, गजराजसे गहरा नाता है ।
सुख-सेज छोड़कर धाते हो, गोवत्स अगर रंभाता है ॥
ब्रज-चनिताओंका प्रेम तुम्हें वन-वीथिनमें नचवाता है ।
ग्वालों-बालोंके आँगनमें क्यों हृदय-कमल खिल जाता है ॥
प्राणोंके तारोंपर मेरे जीवन-धनकी झंकार रहे ।
लेकिन वह अँखियाँ फिरी रहें, दुखकी लयका विस्तार रहे ॥

(४)

इन जरा-मरण-संततोंका स्वामी अनन्त कहलाया है ।
विख्यात पतितपावन होकर पतितोंसे गौरव पाया है ॥
असुरारि अधम-उद्धारनका अधमोंने मान बढ़ाया है ।
दुखभंजन आरतपाल बने दीनों-दुखियोंकी माया है ॥
हो प्रणतपाल, प्रण पालो ना ! सीधा-सच्चा व्यवहार रहे ।
स्वामी-सेवकके झगड़ेमें, देखेंगे किसकी हार रहे ॥

(५)

यदि प्रेमशून्य है मन मेरा, तो प्रेम-सुधा वरसा दीजे ।
मधुमय अनन्त आकर्षणसे उस छविकी लगन लगा दीजे ॥
मोहन ! मेरे अन्तस्तलमें वह मधुमय पीर उठा दीजे ।
मेरे इन आकुल प्राणोंपर चरणोंका चिह्न बना दीजे ॥
वसिये आकर इन नैनोंमें, सारा संसार असार रहे ।
बन्धन कट जाये दुनियाका, और खुला कृपाका द्वार रहे ॥

(६)

इस अंधकारमय जीवनमें एक जीवन-ज्योति जगा देना ।

सुखमय संसार बना देना, मेरा अस्तित्व मिटा देना ॥

नश्वर पथके भूले-भटके, प्रीतम-पथ-पथिक बना देना ।

मेरे इन पागल प्राणोंको प्राणेश्वरतक पहुँचा देना ॥

नहीं

इस रक्त-मांसमें जीवनका 'वेकल' जबतक संचार रहे ।

राधा-भाधवका सुमिरन हो, 'गोविन्द' नाम आधार रहे ॥

—श्रीकैदारनाथ 'वेकल'

गृहस्थ-जीवन एक समझौता है !

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

दुनिया एक अजीब-सी जगह है। लोग आते हैं, जाते हैं और सब अरमानोंकी एक बस्ती दिलोंमें बसाये हुए। यों माझम यह पड़ता है मानो यहाँ कोई नियम नहीं है—कोई व्यवस्था नहीं है, और जो चीज एकके लिये ज़रूर है वही दूसरेके लिये अमृत है। समुद्रकी अनन्त लहरोंकी तरह एक इच्छा दूसरीके ऊपर उठती है और हमें चैन नहीं लेने देती। स्वस्थ जवान आदमियोंको जिन्दगी और परिस्थितिसे ऊबकर और परेशान होकर मैं मौतके लिये तड़पते देखता हूँ और ऐसे बूढ़े, जो खा नहीं सकते, पी नहीं सकते, चल-फिर और उठ नहीं सकते,—मतलब हर तरहसे लाचार, लाजसाओंकी एक दुनिया लिये कुछ और जीनेके लिये प्रतिक्षण मर रहे हैं। जिनका घर भरा-पूरा है और लाखों बैंकमें हैं, ऐसे आदमी गृहत्यागी होकर फकीरकी धूनी रमा लेते हैं और जिसको मशकत और मज़रीसे (१५) मिलते हैं वे अपने कुटुम्बोंसे चिपटे हुए हैं। धनवान् रोता है और कहता है इससे तो मेरे नौकर

अच्छे हैं। गरीब रोता है कि ये धनवान् उसकी छातीपर बैठे भोग-विवास कर रहे हैं। वह दुःख-भरी निराशा और लाजसासे उन बाबुओंकी ओर देखता है जो अपने साथ एक सजी हुई, तमाशेकी चीज-सी, श्रीमतीको लिये उसपर डॉट-फटकार करते और ईमानदारीका उपदेश देते, चीन्हे-पर-चीन्हे खरीदते और उन्हें उसके सिरपर यों लादते चढ़े जा रहे हैं जैसे उसके कंधे और सिर इसीलिये बनाये गये हों और उसके लिये वजनका कुछ झुंझाल करना ज़रूरी नहीं है। एक सन्तानके लिये तरस रहा है, दूसरा सन्तानको पाकर दुनिया सिरपर उठाये हुए है। अच्छी, हरी-भरी गृहस्थियाँ देखते-देखते मिट जाती हैं और जिनको मिटना है, वे मानो अमृत पीकर दुनियामें आयी हैं।

जब मैं देखता हूँ तो यह सब एक अजीब तमाशा-सा लगता है। जैसे हमारी आँखोंके आगे एक अत्यन्त विविधतामय चित्रपर तह-पर-तह खुलता जा रहा हो। क्या अच्छा होता कि हम सिर्फ़ इसके

तमाशाई रह सकते—दर्शक बनकर इसे देख सकते; पर मुश्किल यह है कि हम भी उसीके अंग हैं और अगर नहीं हैं तो बहुत जल्द वन जाते हैं। हमें भी उस चक्रमें घूमना है और स्टेजपर अपना पार्ट अदा करना है।

यह पार्ट अदा करनेमें बड़ी सहूलियत हो अगर हम अपने अंदर विनोदकी वृत्ति पैदा कर लें और ठीक-ठीक समझ लें कि क्या करनेसे जिन्दगीमें जो इतनी खराश और तुरी है, इतनी पीड़ा और दुःख है, वह दूर किया जा सकता है या कम किया जा सकता है।

चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसीलिये वह गृहस्थ भी है। गृह-जीवन समाजका एक लघु चित्र है। समाजकी नींव मिलनसारी, एकता, स्वार्थोंके समन्वय और सामञ्जस्यपर है। यह बात समाजके लिये जितनी ठीक है उससे भी ज्यादा गृहस्थ-जीवनके लिये ठीक है। जो आदमी इसे नहीं समझता कि जिन्दगी एक समझौता है और विवाहित जीवन पूरा-का-पूरा समझौते और समन्वय, मेल-जोल, आदान-प्रदानकी एक श्रेष्ठ साधनाका जीवन है, वह मानो आँख रहते हुए भी देखकर चलनेसे इन्कार करता है। सैकड़ों लहलहातो हुई गृहस्थियाँ इस बातको न समझनेके कारण श्मशान बन गयी हैं। सैकड़ों दिल इसपर ध्यान न देनेके कारण फट गये हैं। उनमें खटाई पड़ गयी है। वे रोते हैं, कराहते हैं, मसोसते हैं, सिसकते हैं। उनका दम घुट रहा है और जिन्दगी भारी पड़ गयी है।

कुछ दिन हुए एक अजनबी सज्जन मेरे यहाँ आये। अकस्मात् इनका आगमन हुआ। गोरे-चिटे, सुन्दर चेहरा, भरपूर जवानी, स्वास्थ्य भी कुछ बुरा

नहीं। देखनेसे मालूम हुआ आदमी दिलका भला है। उनका चेहरा दूसरोंमें अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करता था। मैं इन्हें जानता न था, न इनके आनेकी कोई सूचना मुझे थी। इसलिये मैंने प्रश्नभरी आँखोंसे उनकी ओर देखा। बड़ी नम्रता और संकोचसे उन्होंने मुझसे कुछ समय माँगा और एकान्तमें बात करनेकी इच्छा प्रदर्शित की। खैर, मैं उन्हें अलग ले गया; खूब खुलकर बातें हुईं। वे सारी बातें उस व्यक्तिके गृहस्थ-जीवनसे सम्बन्ध रखती थीं और उनका विवरण देना न यहाँ इष्ट है और न उस आदमीके प्रति न्याय ही होगा। पर उन बातोंका सारांश इतना ही है कि यह सज्जन आगरेके रहने-वाले, अच्छे पढ़े-लिखे और घरके सम्पन्न हैं। इन्होंने मेरी पुस्तक 'भाईके पत्र' पढ़ी थी तथा समय-समयपर पत्रिकाओंमें निकलनेवाले गृहस्थ एवं विवाहित जीवन-सम्बन्धी मेरे अधिकांश लेखोंको भी इन्होंने पढ़ा था। इससे उनकी मेरे प्रति एक सद्भावना—जिसे श्रद्धा भी कह सकते हैं—थी। उनके मनमें यह ख्याल था कि मैं गृहस्थ-जीवनकी विशिष्ट समस्याओं या कठिनाइयोंके बारेमें उनका कुछ पथ-प्रदर्शन कर सकता हूँ। इसलिये वे आये। उन्होंने अपनी पत्नीकी बड़ी तारीफ़ की और उसके प्रति अपने प्रेमका मुझे विश्वास भी दिखाया। पर दोनों एक-दूसरेसे प्रेम करते हुए, दोनोंके शुभाकांक्षी होते हुए भी, आचरणमें कुछ ऐसी बातें कर जाते थे कि दोनोंके दिल मिल नहीं पाते थे। दोनोंको अपनी इस असफलतापर दुःख था; वे सोचते थे, सब कुछ पाकर भी हम सुखी नहीं हो पाते।

बात इतनी है कि दोनोंके जीवन और कार्य करनेकी दृष्टियोंमें, ढंगमें कुछ भेद है। और पति

महोदय अपनी दृष्टि और कार्य-प्रणालीके प्रति इतना आग्रह रखते हैं, उसपर इतना जोर देते हैं कि एक त्रिभेद ठोसरूप धारण कर लेता है। और सम्पूर्ण शुभाकांक्षाओं और सहानुभूतियोंके बावजूद दोनों रह-रहकर टकरा जाते हैं। पतिका कहना है कि मैं जो कुछ अपनी पत्नीसे चाहता हूँ वह कुछ अपने सुखके लिये नहीं है; वह उसीकी उन्नतिके लिये और उसीको समर्थ और शक्तिमान् बनानेके लिये आवश्यक है। फिर पति महादय सार्वजनिक जीवनके प्रति भी कुछ आकृष्ट हैं और चाहते हैं कि पत्नी खिंचकर उनके साथ आ जाय तो समाजमें कुछ उपयोगी कार्य कर सकनेका रास्ता सरलतासे निकल आवे और उन दोनोंकी मर्यादा और सामर्थ्यमें भी सुधार और विकास हो। पत्नी पतिकी इन आकांक्षाओंके प्रति सजग तो है और उनके प्रति सहानुभूति भी रखती है, पर उसका स्वभाव कुछ ऐसा है कि वह अपने घरकी तरफ, अपने बाल-बच्चोंकी तरफ और गृहस्थ-जीवनकी दूसरी बहुतेरी दैनिक आवश्यकताओंकी तरफ अधिक आकृष्ट है और अपने बच्चोंके पालन-पोषण तथा संस्कारको उसने जीवनमें अधिक महत्त्व दे रक्खा है।

मैंने इस भाईसे जो कहा, वही सबसे कहनेकी आवश्यकता है। वह यह है कि भरसक अपने सिद्धान्तोंके अनुसार जीवन व्यतीत करते हुए भी हमें अपने घरवालों, अपने साथियों तथा समाजके अन्य लोगोंके प्रति काफी उदारता और सहिष्णुताका व्यवहार करना चाहिये। जैसे हम अपनेको अपने विश्वासके अनुकूल चलनेको स्वतन्त्र मान लेते हैं और तदनुकूल आचरणका अधिकार भी चाहते हैं, वैसे ही दूसरोंके विश्वास और अधिकारको भी हमें मानना चाहिये।

‘मेरा ही मार्ग और धर्म ठीक है’ इसको लेकर ही दुनिया नरक बन गयी है। मेरा मार्ग मेरे लिये ठीक हो सकता है और मैं दूसरोंसे भी उसपर चलनेको कहूँगा, पर मेरी सम्मति न स्वीकार करनेवालोंके साथ लड़ाई या जोर-जबर्दस्ती नहीं करूँगा। यदि यह बात न मानी जाय तो एक क्षण दुनियाका काम नहीं चल सकता।

दुनियामें जो इतना दुःख और कष्ट, इतनी हाय-हाय है, उसके मूलमें यदि हम जायें तो वहाँ यही बात मिलेगी कि आदमी खुद अपनेको तो बड़ी सहानुभूति और उदारतासे देखता है और दूसरोंकी ज़रा-ज़रा-सी बातोंपर एक तूमार खड़ा कर देता है। यह दुनियामें रहनेका बिल्कुल गलत तरीका है। हम अपनी गलतीकी लम्बी-चौड़ी सफाई देते हैं; परिस्थितियोंकी दोहाई देनेसे नहीं चूरते; अपनी विवशता दिखलाकर दूसरोंसे हमदर्दीका दावा करते हैं; पर दूसरोंकी राईभर गलतीको पहाड़के रूपमें देखते हैं। मैं मानता हूँ कि इस दृष्टिकोणको लेकर कोई आदमी सुखी नहीं हो सकता।

फिर मैत्री, प्रेम और सामंजस्यके लिये कुछ यह अनिवार्य नहीं है कि जीवनकी तफ़सीलकी बातोंमें पति-पत्नी या और लोग हर वक्त एक ही राय रखते हों। इतना ही कि अलग-अलग राय रखते हुए भी दोनोंके दिलोंमें एक-दूसरेके प्रति वफ़ादार रहने, एक-दूसरेको ईमानदारी और सचाईके साथ समझनेकी कोशिश हो। दोनोंमें एक-दूसरेके लिये दर्द और अपनेपनका भाव हो। एक-दूसरेके गुणोंको देखनेकी तरफ़ ध्यान हो और छोटी-मोटी बातोंपर इतना ध्यान न दिया जाय कि जिन्दगीके वास्तविक तत्त्वोंके प्रति,

उन चीजोंके प्रति जिनपर जीवनके सुखका दारोमदार है, अन्याय और उपेक्षा हो ।

मैंने इन मित्रसे कहा और उसे दोहराता हूँ कि आपने खामखा अपनी जिन्दगीमें खलिश पैदा कर रखी है । यह बैठे-बिठाये दुःख खरीदना है और जिस ज़मीनमें फूल उग सकते हैं उसमें काँटे बोना है । कोई भी जीवन एकाङ्गी दृष्टिकोण लेकर जब चल्ता है तो सिवा दुखी और असहिष्णु होनेके और वह क्या हो सकता है ? फिर विवाहित जीवन तो किसी तरह केवल एक बिन्दु या क्षेत्रमें समर्पित होकर फूल-फल नहीं सकता । वह विविध दृष्टिकोणों और विविध स्तरोंके सामञ्जस्यकी साधना है, जिसमें सब न सिर्फ अपना बल्कि दूसरोंका हित भी देखते हैं और यह अनुभव करनेकी कोशिश करते हैं कि दूसरोंके हितसे अपना हित अलग नहीं है—उसीके साथ जुड़ा हुआ है । इसलिये आपकी पत्नी यदि सदा आपके साथ समा-सोसायटियोंमें नहीं जा सकती अथवा आपकी मित्रमण्डलियोंका साथ नहीं दे सकती तो इसमें दुखी होने लायक तो कोई बात नहीं है—तबतक जबतक वह आपके प्रति ईमानदार और बफ़ादार है; जबतक आपके जीवनसे उसकी सहायुभूति है; जबतक वह आपके प्रेम-सूत्रसे बँधी हुई है और आप फूलें-फलें एवं सुखी हों इसकी चिन्ता भी रखती हो—इसके लिये सचाईके साथ कोशिश भी करती हो । विवाहमें पति-पत्नी दोनोंका व्यक्तित्व लोप नहीं हो जाता बल्कि दोनोंकी सहायतासे दोनोंका व्यक्तित्व विकसित होता और मानव-समाजसे विस्तृत और सहायुभूतिके सम्बन्धोंमें जुड़ता है । जहाँ आग्रह है तहाँ स्वार्य है । इसलिये पत्नीके झुकावको लेकर इतना दुखी होनेकी जरूरत क्या है ? आखिर वह कोई अनुचित काम तो करने जा नहीं रही है ।

चाहे समाजको हम स्थायी या पेशेवर वर्गोंमें बाँटें या न बाँटें, पर सब काम सब लोग कर नहीं सकते । जीवनमें विविधता निरर्थक नहीं है । प्रत्येक प्राणीका अपने संस्कार, परिस्थिति और प्रेरणाके अनुसार अलग-अलग प्रवृत्तियोंकी तरफ झुकाव होता है और हम सबको एक ही प्रवृत्तिको ग्रहण करनेके लिये विवश नहीं कर सकते । ऐसा होनेसे व्यक्तिका विकास रुक जायगा; वह एक यन्त्रमात्र रह जायगा; अपनी विवेचन और चुनावकी शक्ति खो देगा और समाज अव्यवस्थित तथा त्रस्त हो जायगा । आवश्यकता इतनी ही है कि हम विभिन्न प्रवृत्तियोंको ग्रहण करके भी अपनेको सङ्कुचित न होने दें; सबके कार्योंकी ओर सहानुभूति-की दृष्टि डालें और उनके बीच विरोधकी जगह ऐक्यकी अनुभूति करें ।

हमारे उपर्युक्त मित्रकी पत्नी किसी प्रकार उनके जीवनके विकास या उन्नतिमें बाधक नहीं है । वह समाजके उत्तरदायित्वका एक भारी बोझ वहन कर रही है । अपने पतिसे उसकी समाज-सेवा कुछ कम नहीं है—हाँ, वह इतनी वाचाल नहीं है और शायद सेवा एवं त्यागके गम्भीर नामोंका उपयोग करनेकी कला भी उसे नहीं मालूम है । यदि वह पतिके मार्गपर पड़े कङ्कुर और काँटोंको चुन रही है तो पतिके साथ-साथ क्या उसकी यात्रा जारी नहीं है ? उसका काम उस श्रमिकका काम है जिसने मकानकी नींवमें बड़ी ईमानदारीके साथ कंकरियाँ डाली हैं, सुर्खी पीटी है और नींवको इतना पुष्ट कर दिया है कि उसपर सुन्दर एवं विशाल मकान उठाये जा सकते हैं । अवश्य ही जो दर्शक इस भव्य भवनको देखने आयेगा वह उसमें किये रङ्ग एवं चित्रकारीको देखकर आश्चर्यसे दाँतों-तले उँगली दबा लेगा और उस शिल्पकार एवं चित्रकारकी प्रशंसा करेगा । उस समय उसका ध्यान उस परीब

मजदूरकी ओर न जायगा जिसकी मेहनतसे कूटी-पीटी गयी नींवपर यह विशाल भवन खड़ा है। पर इससे उसके कार्यका महत्त्व कुछ घट नहीं जाता। दुनिया प्रदर्शन-प्रिय है; पर दुनियाके विकास और निर्माणके मूलमें प्रदर्शन-प्रियता नहीं, कर्तव्य एवं प्रेमकी आराधना है।

किसी पतिका अपनी पत्नी (अथवा कुटुम्बके एक सदस्यका दूसरे)से अपने ही मार्गपर चलनेका आग्रह न न्यायोचित है और न सम्भव ही है। ऐसा करना विवाहित जीवनकी जड़में कुल्हाड़ी मारना है। विवाहित जीवन अनुभूतियों एवं सहानुभूतियोंके क्षेत्र-विस्तारका क्रियात्मक अभ्यास है। इसका आदर्श ही समाप्त हो जाता है यदि हम एक हठ पकड़कर बैठ जायें और सबसे आशा करें कि वह जिन्दगीकी हर बातमें हमारा ही अनुकरण और अनुसरण करे। जो पति ऐसा चाहता है वह पत्नीके मानो प्राण हरण कर लेता है।

मैं मानता हूँ, बहुतेरी स्त्रियाँ पुरुषके प्रमुखको मानकर सिर झुका देती हैं। पर यह पुरुषकी श्रेष्ठताकी स्वीकृति नहीं है; यह अपनी विवशता और बेचारगीकी अनुभूति है। बहुत सम्भव है, तुम दबाओ और तुम्हारी पत्नी तुम्हारी आज्ञापर 'डिटो' (एन) कर दे—ओठ हिला दे; पर उसी क्षण उसकी आत्मा मुरझाने लगती है और प्राणोंके उगते और खिलते हुए अङ्कुर सूखने लगते हैं। एक जीवित, तेजस्वी, प्राणमय पत्नीकी जगह हम शिथिल, अर्द्धमृत और विवेकशून्य प्राणीकी जीवनमें प्रतिष्ठा करने लगते हैं। कैसा यह आश्चर्य है !

इस तरहकी बातें बहुत कही जा सकती हैं और उदाहरण भी बढ़ाये जा सकते हैं। कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि समाज-जीवनकी यात्रामें, विवाहित जीवनके क्षेत्रमें, क्या जिन्दगीके प्रत्येक क्षेत्र और विस्तारमें, यह बात सदा याद रखनेकी है कि जिस नींवपर मनुष्यके सब प्रयत्न खड़े हैं, जिस सिद्धान्त और विश्वासपर समाज खड़ा है, वह समझौते और सामझस्यका सिद्धान्त है। अविवाहित या विवाहित कोई आदमी इसे भूलकर एक कदम नहीं चल सकता और चलता है तो वह अवाञ्छनीय परिणामोंका शिकार होता है।

इसलिये जो युवक विवाहित जीवन अङ्गीकार कर चुके हैं या जो विवाह करने जा रहे हैं और जो चाहते हैं कि यह विवाहित जीवन एक बोझ, एक दुःख, एक गतानुगति और काँटे-सी चुमनेवाली चीज बनकर न रह जाय, बल्कि फूल-सा खिल उठे और सुगन्धकी तरह जीवनके कण-कणमें बस जाय, उसके लिये बहुत जरूरी है कि वह इस बातको अच्छी तरह समझ ले। अज्ञानकी वजहसे और स्थितिको गलत समझनेके कारण हजारों गृहस्थियाँ उजड़ जाती हैं। आदमी जान-बूझकर मूर्ख नहीं बनना चाहता और न जानते हुए दुःख खरीदना चाहता है। आदमीकी जिन्दगी अकसर खराब इसलिये नहीं होती कि उसमें सहानुभूति या सचाईकी कमी होती है। मैंने अनेक ऐसे घरोंको मिटते देखा है जिनमें पति और पत्नी दोनों अच्छे, नेक, शरीफ और एक-दूसरेको प्रेम करनेवाले थे। मुश्किल यह है कि झगड़े जिन्दगीके उद्देश्य, लक्ष्य या बड़े सवालोंने उतने नहीं पैदा होते जितने छोटे-छोटे और देखनेमें चैर-जरूरी मसलोंपर पैदा होते हैं। आदमी सोचता

है—इनपर क्या ध्यान देना है। उधर ज़हर नीचे इकट्ठा होता जाता है और हम चौकने तब होते हैं जब नासूर पड़ जाता है। नासूरका कायदा है कि वह हमें अकसर धोखा देता है। जब वह नीचेसे सड़ रहा होता है तब ऊपरसे हमें स्वस्थ दिखायी देता है और जब हमें उसकी ओरसे कोई भय नहीं होता तब वह एकाएक फूटकर वह निकलता है।

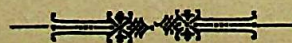
तो मैं कह यह रहा था कि दाम्पत्य-जीवनमें पीड़ा और दुःखका अनुभव अकसर इसलिये नहीं होता कि पति-पत्नी एक-दूसरेको सुखी करनेको उत्कण्ठित नहीं होते वरं इसलिये होता है कि हम एक खास रास्तेपर ही चलनेका हठ पकड़ लेते हैं—प्रकृति और स्वभावकी भिन्नताको भूल जाते हैं और सपनों और झूठे तथा उन्मादक अरमानोंकी दुनियामें उड़ने लगते हैं।

मैं एक मित्रको जानता हूँ जो अपनी पत्नीके लिये खुशीसे प्राण दे सकते हैं। उनके इस दावेमें मुझे अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं है। पर अकसर मैंने देखा है कि उस वक्त जब 'क' कहना चाहिये, वह 'ख' कह जाते हैं; जब चुप रहना चाहिये तब एक व्यङ्ग्य मुखसे निकालनेका लोभ समेट नहीं सकते। जब जरा हँसाने और गुदगुदानेकी ज़रूरत है तब वे चेहरा बना लेते हैं। जब पत्नी उनके मुँहकी ओर प्रश्न-सूचक दृष्टिसे देखती है, जब वह उनसे कुछ बात-चीत, कुछ सुनना, दिलकी दो बातें करना चाहती है तब उनका शास्त्रका अध्ययन करना और वैज्ञानिक विषयोंपर चिन्ता करना ज़रूरी हो उठता है। इससे दिलोंमें प्रेम और वफ़ादारी होते हुए भी दोनों दिल सतहके अन्दर

अलग-ही-अलग रह जाते हैं। दोनों मिलनेके लिये तड़पते होते हैं पर मिल नहीं पाते। और एक बार यह अकड़नेका, यह झूठे मानका अंदाज आया कि हम दुःख और विवशताकी खाईमें गिर पड़ते हैं, हाथ-पाँव मारते हैं पर निकल नहीं पाते। इस लाचारीपर हममें खीझ और पश्चात्तापका भाव पैदा होता है—हम रोते हैं, पर हमारे आँसू बिल्कुल व्यर्थ चले जाते हैं।

जैसा कि मैं बहुत बार कह चुका हूँ, दाम्पत्य-जीवनके सुख बड़े-बड़े सिद्धान्तोंपर उतने निर्भर नहीं हैं जितने उन सिद्धान्तोंका दैनिक जीवनमें हम प्रयोग किस प्रकार करते हैं, इसपर निर्भर हैं। हम प्रेम और उदारताकी बातें बहुत करते हैं, निरभिमानताकी सीख देनेमें सबसे आगे होते हैं; पर जब ज़रूरत पड़ती है कि हम इनसे काम लें न जाने हमारी दृढ़ता कहाँ लोप हो जाती है।

हम जीवनके आधारभूत सत्योंके प्रति अकसर इतना कम जागरूक रहते हैं कि आश्चर्य होता है। और मेरा ख्याल है कि अधिकांश व्यक्ति जितना इस बातको भूलते हैं उतना और किसी बातको नहीं कि गृहस्थ-जीवन समझौतोंका जीवन है—इसपर कदम-कदमपर आकांक्षाओं और अरमानोंपर नियन्त्रण एवं शासन है तथा अनेक जीवनों, उनके अनुभवों एवं अनुभूतियों, उनकी कल्पनाओं और विश्वासोंका यह सामञ्जस्य है। यह औसत, यह समन्वय ही सुखका मार्ग है और उन्नतिकी सीढ़ी है। यदि तुम इसे जीवनकी यात्रामें चलते हुए सदा याद रख सको तो तुम्हारे पाँवमें काँटे न चुमेंगे और जो काँटे तलुवों-तले आयेंगे वे फूल बनकर तुम्हारे चरणोंका वन्दन करेंगे।



सन्तोष

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

संसारमें यदि किसी वस्तुका वास्तवमें अभाव है तो वह सन्तोषका है। 'सन्तोषमें ही परम सुख है'—यह हमारे शास्त्रकारोंका वचन है; किन्तु आधुनिक सभ्यतामें जीवनके लिये जहाँ अनेक नये सिद्धान्तोंकी रचना हुई है, वहाँ सन्तोषके विषयमें भी नये नियम बने हैं। आप पूछ सकते हैं कि ऐसा क्यों होता है? इसका कारण है। यदि नया समाज यह कहता है कि सन्तुष्ट व्यक्ति मुर्दा होता है, सन्तोषकी भावनाके जाग्रत होते ही विकासका क्रम समाप्त हो जाता है तथा सन्तोषके परे ही प्रगति होती है, तो एक प्रकार-से बहुत ग़लत बात भी नहीं है। जिस प्रकार धार्मिक सिद्धान्तोंमें कहीं-कहीं अर्थका अनर्थ किया जाने लगा है, अविद्याके कारण हम धर्मके तत्त्वका निस्सार अर्थ लगाने लगे हैं, उसी प्रकार सन्तोषीका अर्थ 'आलसी' हो गया है।

किन्तु यदि मूर्तिपूजाके महत्त्वको न समझनेवाला उसे बुरी दृष्टिसे देखे अथवा वर्ण-व्यवस्थाका मर्म न जाननेवाला उसे निरर्थक वस्तु समझे तो इससे इन दोनों चीज़ोंकी महत्ता नहीं घटती। यह हो सकता है कि कुछ मूर्तिपूजक स्वयं अपना कर्तव्य न समझते हों—पर इससे भी वस्तुविशेषकी प्रधानता नहीं कम होती। इसी प्रकार सन्तोषकी भी माया है। जो निरुद्यमी होता है, निष्फल होता है, असफल होता है, वह अपनी कमोको छिपानेके लिये अपनेको सन्तोषी कहकर संसारको धोखा देना चाहता है। जो विना ज्ञान-विज्ञानका, विना माया-ममताका हनन किये केवल पाखण्डी साधु होता है, वह भी इसी प्रकार अपनेको सन्तोषी जीव कह सकता है। पर इससे सन्तोषनामक महान् वस्तुकी महत्ता कम नहीं होती।

नयी सभ्यताने हरेक प्राणीको 'आगे बढ़ो' का मन्त्र दिया है। पर इसके साथ ही, कहाँतक बढ़ो, यह नहीं बतला सकी; क्योंकि इसका स्वयं उसे ज्ञान नहीं है। बढ़ना—ठीक बात है। पर कैसे बढ़ना, यह भी बतलाना चाहिये। 'आगे बढ़ो'का मतलब दूसरेको गिराते हुए बढ़ना है, तो उससे क्या लाभ हुआ? यदि प्रगतिका मतलब दूसरेकी अवनति हुई, तो इससे किसका कल्याण होगा? यदि खाधीनताका अर्थ—खराजका अर्थ किसीकी पराधीनता हुई, तो इससे क्या सचमुच किसीको कोई लाभ हुआ? और नयी सभ्यतामें हम यह क्यों नहीं सोचते कि जिसे हम प्रगति कह रहे हैं, वह वास्तवमें वही है? जिसे हम 'आगे बढ़ना' कहते हैं, वह क्या एक तृष्णाका गन्दा रूप तो नहीं है? जिसे हम समाजका महापुरुष समझते हैं क्या वह लोगोंको उन्मत्त तो नहीं बना रहा है और लोग मृगतृष्णाके शिकार तो नहीं हैं?

यह बात सोचनेकी है और इसपर काफी सोचना चाहिये। इसमें हमारा स्वार्थ भी है। उस प्रगति, उस विकास, उस धन या समृद्धिसे क्या लाभ जिससे मानसिक सुख न प्राप्त हो! यदि हमारा मन रोज़ एक-न-एक विचारमें मग्न नहीं बल्कि पीड़ित है, यदि हम एक पग आगे बढ़ाते हैं और मानसिक उलझनोंको भी उतना आगे बढ़ा देते हैं तो क्या इससे हमें कोई लाभ हुआ। इसी प्रकार परेशानियोंमें उलझा हुआ मन उसी दिन शान्त होता है जब कि प्राणपखेरू उड़ जाता है और प्रेतरूपमें भी आत्मा भटका करती है। दुनियाके हरेक कार्यका उद्देश्य सुखी होना है। सुख शरीरका नहीं, मनका चाहिये। मनका सुख किसे प्राप्त है, किसे नहीं, यह कहना तो बहुत

कठिन है; पर विरल्लोको ही प्राप्त है, यह कहना सरल है—गलत नहीं।

हम समझते हैं कि धनी व्यक्ति बड़ा सुखी होगा। उसे, और चाहे जो हो, रोजके लिये पेट भरनेकी समस्या नहीं है। पर यदि आपके पास काफी पैसा हो, भोजनका अच्छा-से-अच्छा सामान सुलभ हो, फिर भी पेटकी बीमारीके कारण आप एक दाना भी न खा सकते हों तो आप अपनेको सुखी समझियेगा या उसे जो एक मुट्ठी चना खाकर कँकरीली जमीनपर ऐसी गहरी नींद सोता है मानो वह मखमलके गद्देपर लेटा हो। मखमलके गद्देपर भी लेटनेवाले उस गरीबके समान गहरी नींद नहीं सो पाते। ऐसा क्यों होता है? एकको धन इकट्ठा करनेकी चिन्ता है, दूसरेको पेटभर भोजनकी। पेट जल्दी भर जाता है। धनका घड़ा कभी भरता ही नहीं। इस विषयमें मुझको जार्ज बर्नर्ड शॉकी एक बहुत सुन्दर उक्ति याद है—

‘जिस आदमीके दाँतमें दर्द होता है, वह यह सोचता है कि जिसके दाँतमें दर्द नहीं है वही परम सुखी है!’ (A man with toothache considers that everybody with sound teeth is happy.)

आगे चलकर बर्नर्ड शॉ कहते हैं—

‘यही दशा गरीबोंकी है, जो हरेक अमीरको सुखी समझते हैं।’ (The same is the case with the poor, who think every rich man is happy.)

मनकी आग

उपर्युक्त कथन बिल्कुल सत्य है। मानसिक सुख संसारमें बड़ी तपस्यासे प्राप्त होता है। उसे पाना सहल है, यदि हमको सत्संग प्राप्त हो। आज यूरोपकी दशा देखिये! क्या हिटलर सुखी है? उसके मनपर कितना बड़ा बोझ है! उसने अपने राष्ट्रमात्रको तृष्णा-से पागल बना रक्खा है। क्या मुसोलिनी सुखी है?

वह रात-दिन पराया राज्य जीतनेका प्रयास करता रहता है। क्या ब्रिटेनका प्रधान मन्त्री सुखी है? उसे अपने पापसे कमाये राज्यको बचाकर रखनेकी बड़ी चिन्ता है। क्या जापानका शासक प्रसन्न है? क्या धनान्ध अमेरिका सुखी है? आप अच्छी तरहसे सोचिये कि इनमेंसे कोई भी सुखी या प्रसन्न है अथवा नहीं? विचार करनेसे आपको ज्ञात होगा, आप स्वयं समझ जायँगे कि जरूर इन सभीके मनमें एक ऐसी भयंकर आग जल रही है, जिससे इनका और इनके राष्ट्रमात्रका शरीर झुलस रहा है। इनके पास किसी पूर्वजन्मकी तपस्याके कारण अधिकार है, धन है, बल है; पर इनके शरीरका रोम-रोम दूसरोंसे कुछ छीननेके लिये या अपना कुछ छिन जानेके भयसे पीड़ित है, मस्त है। क्या आप इनके ऐसा सुख चाहते हैं? बड़े-बड़े वैज्ञानिक खोज करनेवाले पण्डित एक पुर्जा बनाते हैं, दूसरा बनाते हैं—वे बनाते ही चले जाते हैं, उनका काम पूरा नहीं होता। कोई दो आदमी मारनेवाला, कोई दो सौ मारनेवाला, कोई दो हजार मारनेवाला बमका गोला बना रहा है; पर किसीको यह ज्ञात नहीं है कि कितनोंकी जान लेनेके बाद उसका उद्देश्य पूरा होगा, इसलिये हरेक ऐसी खोजमें है जिससे संसारकी समृद्धि सृष्टि ही स्वाहा हो जावे! एक देश कहता है कि विवाहकी प्रणाली ही गलत है, जिसे जो मनमें आवे करे। दूसरा देश कहता है कि विवाह करना चाहिये। इस प्रकार रूस और जर्मनी दोनों दो प्रकारके प्रयोग कर रहे हैं। फ्रांसको फ्रिक् है कि सुन्दरियाँ चेहरेकी हिफाजत कम करें और सन्तान उत्पन्न करें, चीनमें फ्रिक् है कि सन्तान कम पैदा हों तो पेट भरनेका सवाल हल हो जावे। इस प्रकार चारों ओर प्रयोग हो रहे हैं और हम भारतीय अपने प्राचीन महा पुरुषोंको पुराने खूबसूरत समझकर स्वयं भी ऐसे प्रयोगोंमें हाथ बटाना चाहते हैं। यही बड़े खतरेकी बात है।

मानसिक सुखका महत्त्व

सुखकी कोई परिभाषा नहीं। किसीको चोरीमें, दया करनेमें, पाप करनेमें सुख मिलता है; किसीको नेकी करनेमें। पर आप जब चाहें किसी चोरसे पूछ लें, वह चोरी करनेमें जितना ही सुख पाता है उतना ही भीतरसे कोई चीज उसे काटती है, मना करती है, धिक्कारती है। बुढ़ापेमें वेश्या केवल पाखण्ड करनेके लिये ही तपस्विनी नहीं हो जाती, बल्कि वह अनुभव करने लगती है कि उसका यौवनका पाप गलती था, भूल था। मनका सुख कितना महान् होता है, इसका केवल उदाहरण ही दे देना काफ़ी न होगा। कुछ प्रत्यक्ष अनुभव भी करना चाहिये। यों तो शास्त्रवचन है कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

मन ही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण होता है। यदि मन साफ़ और सुखी है तो मनुष्य भी संसारकी नौकाको पार कर ले जायगा। यदि उसीको राग लगा है, वह मैला हो रहा है, तो फिर संसारका कोई भी भौतिक-तथा पार्थिव अम्युदय उसे सुखी नहीं कर सकता। मानसिक सुख तो उसे मिलता है जिसके लिये—

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी

शान्तिश्चिरं गेहिनी।

सत्यं सनुरयं दया च भगिनी

भ्राता मनःसंयमः॥

अर्थात् धैर्य जिसका पिता हो, क्षमा जिसकी माता हो, शान्ति जिसकी गृहिणी हो, सत्य जिसका पुत्र हो, दया जिसकी बहिन हो और जिसका भाई उसका मनःसंयम हो.....ऐसा व्यक्ति वास्तवमें सुखी है, सन्तोषी है और वही संसारमें सबसे सफल, सबसे महान् और सबसे अधिक सम्पन्न है। जो दूसरेके विनाश या पतनमें, दूसरेके बाल-बच्चोंको

भूखों मारकर स्वयं अपना पेट भरनेमें प्रसन्न रहता है, उस अभागोको कभी सुख मिड़ेगा ही नहीं, क्योंकि वह सृष्टिके साधारण नियमका अनादर कर रहा है। जो यह भी नहीं जानता कि सबकी आत्मा एक है, सबमें एक ही सच्चिदानन्द भगवान् विराजमान हैं, हर एकका शरीर भिन्न, पर प्राण एक है—वही किसीको पराया समझेगा, कष्ट देगा। पर एक आदमीका गला काटनेसे अपने गलेमें भी छेद होता है, एकका हनन करना, एकके परिवारको कष्ट देना अपनी आत्माको भी वज्राघातसे पीड़ित करना है—यह बात जो समझ लेता है, वही मानसिक सुख भोग सकता है। जिस प्रकार आकाशमें एक चन्द्रमा नदीकी लहरोंमें हजारों चन्द्रमाके रूपमें प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार परब्रह्मके प्रतिबिम्बरूप भवसागरके हम सब प्राणी हैं। फिर परस्परका राग-द्वेष कैसा! इसीलिये महात्मा गांधीका भारतके लिये यह सिद्धान्त बहुत ही सुन्दर है कि—‘स्वराज्य तो जरूर लेना पर अँग्रेजोंके प्रति राग या द्वेष रखकर नहीं। हम और वे अभिन्न हैं। वे हमको पराधीन रखकर ऐसा पाप कर रहे हैं जिससे हमारी उनकी आत्माका हनन होता है। इसलिये स्वराज्यद्वारा हम उनको उस पापसे बचाना चाहते हैं।’

और अगर मान लीजिये कि आपने सबको दबाकर, सबको कुचलकर परम शक्ति प्राप्त कर ली तो भी क्या होगा? रावण और महिषासुर, कंस और वृत्रासुर, इनको भी अपनी महाशक्तिके कारण प्राणसे हाथ धोना पड़ा। हैनिबल, सीज़र, नेपोलियन—किसीका जमाना न रहा। महाविजयी सिकन्दर भी अपने साथ क्या ले गया?

लाया था क्या सिकन्दर, दुनियाँसे ले चला क्या!

ये हाथ दोनों खाली, बाहर कफनके निकले!!

यही दशा संसारकी है। फिर भी मन नहीं मानता

और इधर-उधर चक्कर लगाया करता है। यही प्रभुकी माया है—

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।

किन्तु प्रभुने हमें सचेत करनेके लिये काफी कह दिया है। वे हमें काफी समझा चुके हैं कि अपने समान हरेक प्राणीसे प्रेम करो। परायी स्त्री या पराये द्रव्यको आँख उठाकर देखो भी नहीं। इससे कुछ भी लाभ न होगा। जब तुम परायी चीजपर आँख डाल सकते हो, तो दूसरा भी तुम्हारे साथ वही कर सकता है। इसलिये तुमको अपहरण ही नहीं करना है, आत्मरक्षा भी करनी है! इस संघर्षका कहाँपर अन्त होगा! कवि कहता है—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-

स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।

कालो न यातो वयमेव याता-

स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥

‘इस संसारके भोग नहीं समाप्त होते, हमी समाप्त हो जाते हैं। तपस्या नहीं समाप्त होती, हमी समाप्त हो जाते हैं। समय नहीं जाता, हमी चले जाते हैं। और तृष्णा नहीं बूढ़ी होती, हमी बूढ़े हो जाते हैं।’ भर्तृहरिका दूसरा श्लोक है—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ।

शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥

अर्थात् भोगमें रोगका भय रहता है, कुलवान्को कुलकी मर्यादाके नाशका भय रहता है, धनीको राजाका डर है, मौनीको भूखों मरनेका भय है, बलवान्को शत्रुका भय है, सुन्दरताको बुढ़ापेका डर है, विद्वान्को वादविवादका, गुणीको दुष्टका, शरीरको यमराज का—इस प्रकार संसारकी हरेक वस्तुमें भय है; यदि कोई वस्तु निर्भय है तो वह वैराग्य है।

वैराग्यका अर्थ घर-द्वार छोड़कर गेरुआ धारण कर लेना ही नहीं है। जो भी वीतराग हो, स्थितप्रज्ञ हो, सुख-दुःखमें समान रहता हो, वही वैरागी है।

जीवनका साधारण खेल

सुख-दुःख जीवनका साधारण खेल है। उसमें पागल होनेकी कौन-सी बात है? ध्यान रखिये कि यदि आप इस समय हँस रहे हैं तो आपसे बहुत नजदीक कहीं कोई रो रहा होगा। इसी प्रकार अगर मैं रो रहा हूँ तो दूरपर कोई हँस भी रहा है। एकके यहाँ शादी और दूसरेके यहाँ ग़मी—यह तो मामूली बात है। आज हँसना है तो कल ज़रूर रोना है। आज मैं हँसता हूँ तो शायद किसीको रुलाकर। या मेरे सुखकी हँसी मेरे हृदयके भीतरकी धधकती आगको छिपानेकी चेष्टामात्र हो। इसलिये सुख-दुःखकी लम्बी व्याख्या कर मानसिक सुखकी हत्या करनेसे क्या लाभ ?

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता

परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।

अपनेको सुखी और दुखी करनेवाले हम स्वयं हैं। कोई दूसरा हमको कष्ट दे सकता है, यह गलत बात है। फिर भी यदि मन नहीं मानता और वह भटकना चाहता है और दूसरेसे राग-द्वेष करना चाहता है, तो क्या कहा जाय—

न कोई दोस्त है अपना, न दुश्मन है कोई याँ पर ।

अबस दिलमें किसीसे है कहीं मेहरोंकी है आयाँ !!

इस दुनियामें न तो कोई दोस्त है, न दुश्मन ! बेकार किसीसे राग और द्वेष क्यों रखते हो ? अगर हम राग-द्वेष रखना बन्द कर दें तो जिस सन्तोषकी बात मैंने पहले कही थी, उसकी प्राप्तिमें कोई देर न रहे ।

मनुष्यकी शक्तियाँ सीमित होती हैं। अपने कार्यका लक्ष्य भी सीमित रखना बुरा नहीं है। यदि एक

आदमी विश्वविजयी बनना चाहता है तो वह भले ही उसके लिये प्रयास करे, पर यदि वह चाहता है विश्वविजयी बनना और चेष्टा करता है कि विश्वप्रेमी भी वनूँ तो दोनों बातें नहीं हो सकतीं। आज यूरोपकी अशान्तिका प्रधान कारण यह है कि यूरोपवासी यही नहीं जानते कि उनके जीवनका लक्ष्य क्या है—धन कमाना, भोज करना, पराया राज्य हड़पना और बिनाशके साधन ढूँढ़ना। ये कार्य आज युगोंसे चले आ रहे हैं और कभी भी समाप्त नहीं हुए। इसी प्रकार जीवन भी इन्हीं कार्योंके खर्चमें समाप्त हो जाता है। जीवन एक विकट पहेली है—पर इसको सुलझाने-का सबसे सीधा और सरल उपाय यह है कि—

(१) भगवान्में अटल श्रद्धा रखे।

(२) राग-द्वेष, सुख-दुःख और पीड़ासे विचलित न हो।

(३) निरुद्यभी न हो; किन्तु जिस किसी भी दशामें रहे, सन्तुष्ट रहे।

यदि आज हम इन तीनों बातोंको अपना लें तो हम अपना और संसारका कितना बड़ा कल्याण कर सकते हैं, यह बात यहाँ संक्षेपमें समझायी नहीं जा सकती। यह तो केवल मनमें समझनेकी बात है। पर इसके लिये, आत्मसन्तोष तथा मनका सुख प्राप्त करनेके लिये, यह नितान्त आवश्यक है कि कभी भी—किसी भी दशामें—मनुष्य दूसरेका अभ्युदय या विकास देखकर जरा भी न जले। एक पश्चिमीय महात्माके इस कथनको याद रखे कि 'यदि तुझे एक रोटी मिलती है तो याद रख कि तेरी किस्मतमें सिर्फ़ आधी रोटी थी, आधी तो भगवान्ने अपने पाससे जोड़ दी है।' बहुत ही दुरुस्त बात है। इसीको और अच्छी तरहसे एक शायर समझाता है—

शाफ़िल मुक़ाम रख नहीं जाये शुक है।

सबसे बुरा तो एकसे बेहतर बना दिया ॥

डाह करनेकी—दूसरेकी बढ़तीको देखकर अपना मुकाबला करनेकी जरूरत नहीं है; क्योंकि चाहे व सबसे बुरी हालतमें क्यों न हो, तुझसे भी ज्यादा बुरी हालतमें कम-से-कम एक आदमी तो मिलेगा ही।

और एक उर्दू शायर कहता है—

१-क़ाविले तारीफ़ क्या तक्रसीम मयज़ानेमें है।

जितनी जिसकी प्यास उतनी उसके पैमानेमें है ॥

२-वेश औ कमपर बहस, रिन्दों न करनी चाहिये।

जो बड़े-से खुशमें है, छोटे-से पैमानेमें है ॥

३-मयकशों ! मयकी कमी-वेशी पै नाहक जोश है।

यह तो साज़ी जानता है, किसको कितना होश है ॥

कितना साफ़ अर्थ है। यह तो भगवान् जानता है कि किसको कितना होश है, इसलिये कमी-वेशीपर इतने परेशान क्यों हो ! शास्त्रवचन है—

‘चित्ते रमस्व बहु मन्यमानः’

थोड़े धनको प्रभूत समझकर प्रसन्न रहो ! इसका यह अर्थ नहीं है कि उद्योग न करो—पर अपनी आत्माको दरिद्र और निर्बल न समझकर, उसे महान् और सर्वसम्पन्न समझकर, तृष्णाको न बढ़ने दो; क्योंकि तृष्णाके बढ़नेसे ही संसारकी सब विपत्ति आती है और आज हमारे भारतीय बन्धु यदि पश्चिमीय सभ्यताकी तृष्णा तथा असन्तोषके शिकार बन जायेंगे तो उनको जो भयङ्कर कष्ट उठाना पड़ेगा उसकी कोई व्याख्या नहीं की जा सकती। इसलिये अभीसे सतर्क रहना उचित है। सन्तोषकी महत्ताको समझकर सन्तोषी बने रहनेसे जीवनको जो सुख मिलता है, भविष्य जिस प्रकार उज्ज्वल होता है—उसको आँखके सामने रखकर चलनेसे ही हमारा-आपका सबका कल्याण है। अन्यथा हमको भी पश्चिमीय पैशाचिकताका शिकार बनना पड़ेगा। अतएव बन्धुओ ! सन्तोषको अपनाओ।

संत-वाणी

१—जबतक मैं-मेरा है, तबतक तुम उलटी ही राहपर हो। जहाँ निःस्वार्थता और सच्ची श्रद्धा है, वहीं धर्मका बल है।

२—जहाँ उपदेश अधिक होता है, वहाँ गम्भीरता कम होती है। जहाँ गम्भीरता अधिक होती है, वहाँ उपदेश कम होता है।

३—भगवान् ने तुम्हारे लिये जो रच रखा है, उसका विरोध करना तुम्हारे ओछे स्वभावका परिचयमात्र है।

४—जगत्की तमाम चीजोंके रचनेवाले भगवान् को प्राप्त करना किसी भी चीजको प्राप्त करनेको अपेक्षा सहज है; तो भी तुम उससे दुनियावी चीज ही चाहते हो, यह कैसी बात है ?

५—जो मनुष्य स्वर्गादि सुखोंके लिये ईश्वरकी पूजा करता है, वह तो अपनी ही पूजा करता है। और जो ईश्वरके लिये ईश्वरकी सेवा करता है, वह भी ईश्वरको जानता नहीं; क्योंकि ईश्वरको न तो तुम्हारे द्वारा सेवा करानेकी जरूरत है, न चाह ही है। जो ईश्वरको प्रेमके लिये पूजता है, जिससे पूजे बिना रहा ही नहीं जाता, वही यथार्थ पूजता है।

६—साधु पुरुषका यह लक्षण है कि वह जिस किसीसे भी मिलता है, बाहरसे ही मिलता है। भीतरसे तो वह सदा ईश्वरसे मिलता रहता है।

७—जो मनुष्य हर हालतमें अपनेको और तमाम वस्तुस्थितियोंको भगवान् में ही देखता है, वही तमाम वस्तुओंकी इच्छाका त्याग कर सकता है।

८—अपनी दुनियावी स्थिति और शक्तिपरसे विश्वास उठ जाना भी प्रभुकी महत्त्वपूर्ण सेवा है, क्योंकि ऐसा होनेपर ही मनुष्य ईश्वर-सेवाकी योग्यता प्राप्त करता है।

९—जो भी भक्त या साधु अपने ज्ञान-वैराग्यके लिये मनमें गर्व रखता है, वह तो ज्ञान-वैराग्यका उपहास ही करता है। क्योंकि यदि उसके मनसे संसारकी सत्यता और मोह-ममता निकल जाती तो फिर संसारसे वैराग्य करनेपर उसे जरा भी गर्व क्यों होता ? तुम अपने किसी भी वैराग्य या निवृत्तिके लिये क्या गर्व करते हो ? ईश्वरके निकट तुम्हारा यह सब कुछ मच्छरकी पाँखके बराबर है।

१०—जिस मनुष्यका मन प्रभु-चिन्तनकी उद्योति-से प्रकाशित है और जिसमें सदा प्रभुका ही विश्वास भरा है, वही सच्चा ज्ञानी है।

११—इन चार बातोंका पालन करोगे तो तुमसे शुद्ध साधना हो सकेगी। १—भूखसे कम खाना, २—लोकप्रतिष्ठाका त्याग, ३—निर्धनताका स्वीकार और ४—ईश्वरकी इच्छामें सन्तोष।

१२—भोजन अपवित्र होता है तो एकान्तमें भी उत्तम साधना नहीं हो सकती। और ईश्वरके अर्पण किये बिना कोई भी वस्तु पवित्र हो नहीं सकती।

१३—अन्यायसे प्राप्त की हुई वस्तुका उपभोग करनेवाले तमाम अंगोंमें पाप लिपट जाता है। अपनी इच्छा न होनेपर भी ऐसा आदमी पापमें ही डूबता जाता है। जो मनुष्य न्यायपूर्वक मिली हुई पवित्र वस्तुका उपयोग करता है उसके तमाम अंग साधनाके अनुकूल ही वर्तते हैं।

१४—जो सच्ची निवृत्ति चाहता है उसे चाहिये कि वह तमाम पापोंको और उलटी समझको छोड़ दे।

(संकलित)

श्रीहरिः

* कल्याण *

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी, सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष १३

सं० १९९५-९६ की

निबन्ध-सूची,

कविता-सूची

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार

प्रकाशक—धनश्यामदास जालान

कल्याण-कार्यालय

गीताप्रेस, गोरखपुर ।

वार्षिक मूल्य ४३)
विदेशोंके लिये ६॥=)

प्रति संख्या १)

३२ ग्रहण-चर्चा	... ('शान्त')	... १३१५
३३ गीताका विलक्षण शरणमार्ग	... (देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री, मद्र)	१२९१, १३७०
३४ गीतामें विश्वरूपदर्शन	... (हनुमानप्रसाद पोद्दार)	... १३०७
३५ गीता श्रीभगवान्‌के वचन हैं	... (श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)	... ११५३
३६ गुरुकी कृपा	... (श्री 'चक्र')	... १५८५
३७ गुलालसाहबकी प्रेमाभक्ति	... (श्री 'माधव')	... १५७५
३८ गृहस्थ-जीवन एक समझौता है	... (श्रीरामनाथजी 'सुमन')	... १८३१
३९ गृहस्थमें परमार्थ-साधन	... (कुछ वर्ष पूर्व पटनेमें दिया हुआ ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराजका लिखित भाषण)	... १७७३
४० गोस्वामीजीका काव्यसौन्दर्य	... (आचार्य श्रीश्यामसुन्दरदासजी, बी० ए०)	... ९६८
४१ गोस्वामीजीकी सावधानता	... (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)	... ९९७
४२ गोस्वामीजीके अलंकारविधानमें धर्मनीति	... (डा० श्रीपीताम्बरदत्तजी बडधवाल, एम० ए०, एल- एल० बी०, डी० लिट्०)	... ९९५
४३ गोस्वामीजीके चरित्र-चित्रणकी विशेषता	... (श्रीभगवानदासजी हालना)	... १०००
४४ गोस्वामी तुलसीदासजीका सिद्धान्त	... (स्वामीजी श्रीरामदेवजी महाराज)	... ९३७
४५ चतुराई	... (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम० ए०, बी० टी०)	... ११७५
४६ जीवनकी गति	... (श्रीब्रजमोहनजी मिहिर)	... १४५४
४७ जीवनके विकासकी धारणाएँ	... (रायसाहेब श्रीलालचन्द्रजी)	... ११३७
४८ तल्लीनता	... (श्री 'राजेन्द्र')	... १४१३
४९ तुलसी	... (कविवर श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त)	... १०६०
५० तुलसीदासजीका अमर काव्य	... (श्रीयुत सी० वाई० चिन्तामणि, संपादक 'लीडर')	... ८८९
५१ तुलसीदासजीका महान् उपकार	... (पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी)	... १०४१
५२ तुलसीदासजीके अमर वचन	... (श्रीकाका कालेलकरजी)	... ८९०
५३ तुलसीमानस सच्चा विश्वविद्यालय है	... (श्रीजानकीप्रसादजी गुप्त)	... १०६६
५४ दरिया साहब	... ('प्रभुपदविमुख अमागी')	... १३५३
५५ दस प्रकारकी नौ-नौ बातें	... (स्कन्दपुराण-काशीखण्ड, पूर्वाद्धसे सङ्कलित)	... १७८९
५६ दिवाली	... (पूज्यपाद श्रीश्रीभोलानाथजी महाराज)	... ११३३
५७ दीनबन्धुकी प्रत्यक्ष दीनवत्सलता	... (श्री 'रघुनन्दन')	... १८१७
५८ दुःखमोचन मन्त्र और चिन्ताहरण कवच	... (श्रीरामनाथजी 'सुमन')	... १५६०
५९ दुलहीका सुन्दरकाण्ड	...	... ११२०
६० दैनिक कल्याण-सूत्र	११७३, १२२०, १३६२, १४३८, १४६१, १५५२, १६२५, १७५१, १७९०	
६१ दैवी सी० आई० डी०	... ('मुखिया श्रीविद्यासागरजी')	... १४२७
६२ ध्यानकी शास्त्रीय पद्धति अथवा सन्ध्या-रहस्य	... (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)	... ११८२
६३ धर्मका वास्तविक स्वरूप	... (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)	... १२४५
६४ धर्म-तत्त्व	... (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	... १२९९
६५ धर्म-पथ	... (श्रीब्रजविहारीलालजी)	... १२६२
६६ नरेशका साधन	... (श्री 'चक्र')	... १७४५
६७ नामकारस	... (प्रिन्सिपल एन० बी० बूटानी, एम० ए०)	... १७२३
६८ नामकी अनन्त महिमा	... (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	... १२२४

६९ नाम-जपकी साधना	... (स्वामीजी श्रीतपस्यानन्दजी महाराज)	... १८०३
७० नाम-महिमा	... (श्रीभीमचन्द्र चटर्जी, बी० एस-सी०, एम० आई० ई० ई०, एम० आई० ई०, एफ० आर० एस० ए०)	... ११६१
७१ नारी	... (श्रीचारुचन्द्र मित्र, एटर्नी-एट-ला)	१३४१, १५८८, १७३८
७२ नारीकी आत्मकथा	... (श्रीमती अनिलादेवी)	... १५९४
७३ 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' धर्म-तत्त्वोंका अपार्थक्य	... (श्रीरामनाथजी 'सुमन')	... १४३०
७४ निर्मल मानस-सरोवर	... (पं० श्रीचन्द्रकान्तजी, वेदविद्यावाचस्पति)	... १२१६
७५ परमहंस-विवेकमाला	... (स्वामीजी श्रीभोल्लेबाबाजी)	११२४, १२०४, १२८४ १३६४, १४४४, १५२४, १६०४, १६८४, १७६४
७६ परमार्थ-पत्रावली	... (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)	११५१, १६५९, १८१३
७७ पवित्रताके प्रयोग	... (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)	... १४५७
७८ पशु-धन	... (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	... ११४२
७९ पश्चात्ताप	... (श्री'चक्र')	... १३२४
८० पाठके सम्बन्धमें निवेदन	... (पं० श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, एम० ए०; पं० श्रीनन्ददुलारेजी बाजपेयी, एम० ए०)	... ५
८१ पारायण-विधि	...	... १०
८२ पूज्यपाद गोस्वामीजीका अभिमत सिद्धान्त	... (सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार)	... ९६३
८३ पूज्यपाद श्रीउडियावाबाजी महाराजके उपदेश	(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)	११३९, १७७१
८४ पूज्यपाद श्रीउडियास्वामीजी महाराजके उपदेश		१३७९, १४६३, १५४०
८५ पूज्यपाद स्वामी श्रीअद्वैतानन्दजी महाराजके उपदेश	... (प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)	... १२१९
८६ पूज्यपाद स्वामी श्रीएकरामानन्दजी सरस्वती	...	११९८
८७ प्रतीक्षा	... ('त्रिदण्डी')	... १३४०
८८ प्रभुमें विश्वास	... (पूज्यपाद स्वामी श्रीभोल्लानाथजी महाराज)	... १३७७
८९ प्रेम	... (श्रीआत्मारामजी देवकर)	... १३८१
९० प्रेम-ज्योत्स्ना	... (श्रीभगवतदत्त)	... १४१९
९१ प्यारे कृष्ण !	... (श्री'शान्त')	... ११३०
९२ बच्चोंके लिये	...	१२०१, १२७७, १६००
९३ बदला	... (श्री'चक्र')	... १४१०
९४ 'बालमीकि तुलसी भये'	... (डा० श्रीभगवानदासजी, एम० ए०, डी० लिट्०)	... १००८
९५ ब्रह्मचर्यकी महिमा	... (कुमार श्रीशचिनन्दनप्रसादसिंहजी)	... १४९८
९६ भक्तकी भावना	... (श्रीलालचन्द्रजी)	... १४७५
९७ भक्त-गाथा		
(क) (भक्त गिरवर)	...	१२३२, १३३२
(ख) (भक्त भुवनसिंहजी चौहान)	...	... १४१७
(ग) (रानी रत्नावतीजी)	...	... १५१५
(घ) (भक्त प्रतापराय)	...	... १५४५
(ङ) (विसेबा सराफ)	... (पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'भाषव', एम० ए०)	... १६२९
(च) (लोकनाथ गोस्वामी)	... (" ")	... १७०७

(छ) (भक्त मुरारिदास)	...	(पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव', एम० ए०)	... १७८३
९८ भक्तशिरोमणि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी	...	...	... २२
९९ भगवन्नाम-जप	...	...	... १७६१
१०० भगवान्की दया	...	(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके सत्संगके आधारपर)	... १५४२
१०१ भजनकी आवश्यकता	...	(ब्रह्मनिष्ठ श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वाभी जयेन्द्रपुरीजी महाराज, मण्डलेश्वर)	... ११५५
१०२ भारतीय देवियोंसे	...	(स्व० श्रीप्रमचन्द्रजीके 'गोदान'से, प्रेषक-श्रीश्रीधरलालजी अग्रवाल)	... १४३६
१०३ भारतीय साहित्यका अद्वितीय ग्रन्थ	...	(श्रीयुत हीरेन्द्रनाथदत्त, एम० ए०, बी० एल०, वेदान्तसंरक्ष)	... ५३
१०४ भाव-साम्य-मीमांसा	...	(श्रीविन्दु ब्रह्मचारीजी)	... ९८७
१०५ भिखारीकी भेंट	...	(लाला श्रीखुशहालचन्दजी खुर्शन्द, सत्त्वाधिकारी 'मिलान')	... १०७०
१०६ भुर संगीत-लहरी.	...	(श्रीनरसिंह चिन्तामणि केलकर)	... ८९२
१०७ मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके गुण और चरित्र	...	(श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	... १०९५
१०८ महाकवि तुलसीदासजी और अद्वैतवाद	...	(महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथजी तर्कभूषण)	... ११५७
१०९ महात्मा हरिदासजी	...	(श्रीशिवनारायणजी 'योगी')	... १८२०
११० महापुरुष, महाकवि	...	(रे० एड्विन ग्रीन्ज)	... १११८
१११ माँ ! तू कहाँ गयी ?	...	('ब्रह्मानन्द')	... १२०२
११२ मांस खाना बहुत बड़ा पाप है	...	(महाभारत)	मार्गशीर्ष टाइलिका चौथा पेज
११३ मानस	...	(महात्मा श्रीबालकरामजी विनायक)	... ९७९
११४ मानसका आदर्श दाम्पत्य-प्रेम	...	(पं० श्रीधर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, सांख्य-योग-वेदान्त-न्यायतीर्थ)	... १०५९
११५ मानसकी उपादेयता सर्वोपरि है	...	(डा० श्रीसच्चिदानन्दसिंह, एम० ए०, बार-एट-ला, वाइस-चान्सलर, पटना यूनिवर्सिटी)	... ५५
११६ मानसकी एक अर्वाली	...	(प्रो० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, बी० एस-सी०, एम० ए०)	... १२५२
११७ मानसकी एक दिव्य शक्ति	...	(पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा 'सौरभ')	... १०८८
११८ 'मानस'की धर्म-भूमि	...	(आचार्य पं० श्रीरामचन्द्रजी शुक्ल)	... ९६०
११९ 'मानस'की महत्ता	...	(पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य)	... १०१५
१२० मानसके एक प्रसिद्ध मर्मज्ञ (श्रीबंदन पाठक)	...	(श्रीकृष्णदेवजी उपाध्याय, एम० ए०)	... १४८९
१२१ मानसके द्वारा अनुपम सुख और शान्ति	...	(पूज्यपाद महामना पं० मदनमोहनजी मालवीय)	... ५२
१२२ मानसके प्रचारकी आवश्यकता	...	(श्रीयुत सतीशचन्द्रदास गुप्त, खादी प्रतिष्ठान)	... ८९३
१२३ मानसके प्राचीन टीकाकार	...	(महात्मा श्रीअंजनीनन्दनशरण शीतलसहायजी)	... ९०८
१२४ मानसके प्रासंगिक चरित्र	...	...	... ३३
१२५ 'मानस'के लक्ष्मण	...	(प्रोफेसर श्रीलोट्टसिंहजी गौतम, एम० ए०, एल० टी०, काव्यतीर्थ, एम० आर० ए० एस०)	... १०३०
१२६ मानसके समस्त पात्रोंमें राम-भक्तिकी व्याप्ति	...	(पं० श्रीरामबहोरीजी शुक्ल, एम० ए०)	... ९८१
१२७ 'मानस' के संवाद	...	(पं० श्रीविश्वनाथप्रसादजी मिश्र, एम० ए०)	... १०११
१२८ 'मानस' जीवनका प्रकाश है	...	(पूज्यपाद पं० श्रीरामबलभाहारणजी महाराज)	... ५१
१२९ मानस परिपूर्ण मानवताका चित्र है	...	(श्रीरामनाथजी 'सुमन')	... १०६८
१३० 'मानस' प्रणयनका प्रारम्भ किस दिन हुआ	...	(श्रीमाताप्रसादजी गुप्त, एम० ए०, एल०-एल० बी०)	... १०७२

१३१ मानस-पारायण	... (श्रीप्रेमनारायणजी त्रिपाठी 'प्रेम')	... १११४
१३२ मानस भक्तिभावका समुद्र ही है	... (श्रीयुत बाबू शिवप्रसादजी गुप्त)	... ८९४
१३३ मानस मन्त्रमय है	...	... ११०६
१३४ मानसमें पवित्र चरित्र	... (महामहोपाध्याय डा० श्रीगंगानाथजी झा, एम० ए०, एल-एल० डी०, डी० लिट०)	... ९३६
१३५ मानसमें पुरुषोत्तम राम	... (स्वामी श्रीपुरुषोत्तमानन्दजी अवधूत)	... ८९५
१३६ 'मानस' में बालिवध	... (पं० श्रीचन्द्रबलीजी पाण्डेय, एम० ए०)	... १००५
१३७ मानसमें वीरत्व और विनयपूर्ण भावोंका प्रवाह	... (रे० एड्विन ग्रीब्स)	... ५५
१३८ मानस-राष्ट्रकी महानिधि	... (परमहंस बाबा राघवदासजी)	... ८९३
१३९ मानस-शंका-समाधान	... (श्रीजयरामदासजी 'दीन', रामायणी)	... १४६३, १५७०
१४० मानससे जीवन-रसका संचार	... (डा० श्रीमंगलदेवजी शास्त्री, एम० ए०, डी० फिल०, प्रिन्सिपल, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस)	... ८९२
१४१ 'मानस' से भव-बन्धन-मुक्ति	... (पूज्यपाद स्वामीजी श्रीअवधविहारीदासजी परमहंस 'नागाबाबा')	... ५१
१४२ मानस हिन्दीसाहित्यका खजाना है	... (श्रीफिशोरलाल घ० मशरूवाला)	... ८९१
१४३ मृत्युकी स्मृति	... (श्री 'चक्र')	... १२६३
१४४ मृत्युमय	... (साधु श्रीप्रज्ञानाथजी)	... १४९२
१४५ मेरे 'भगवान्'	... (श्रीठाकुरदासजी वर्मा)	... १६३३
१४६ मौजी भगत	... (मुखिया श्रीविद्यासागरजी)	... १५२०
१४७ य एवासि सोऽसि	... (श्रीमती कुमारी ब्रह्मवती विद्यालंकृता, साहित्यरत्न)	... १४१४
१४८ यह धर्मविप्लव क्यों ?	... (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी दिवेदी)	... १६५४
१४९ राजर्षि रन्तिदेव	... (स्वामी श्रीपुरुषोत्तमाश्रमजी महाराज)	... १३६०
१५० राम-कृष्ण	... (रायसाहब श्रीकृष्णलालजी बाफणा)	... १०५७
१५१ रामचरितमानस	... (पं० श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ)	... १०९१
१५२ रामचरितमानस और राष्ट्र-निर्माण	... (श्रीयुत भगवानदासजी केला)	... १०५८
१५३ रामचरितमानसका तापस-प्रकरण	... (प्रोफेसर श्रीहरिहरनाथजी हुक्क, बी० एस-सी०, एम० ए०)	... १६३५
१५४ रामचरितमानसकी कुछ विशेषताएँ	... (माननीय डा० सर सीतारामजी, एम० ए०, एल-एल० बी०)	... १०४७
१५५ रामचरितमानसके सिद्धान्त, साधन और साध्य	... (पं० श्रीकेशवप्रसादजी मिश्र)	... ९७७
१५६ रामचरितमानसमें धर्म और अधर्म	... (पं० श्रीदामोदरजी उपाध्याय, वैद्य)	... १०५५
१५७ रामचरितमानससे श्रद्धाकी प्राप्ति	... (पूज्यपाद महात्मा गान्धीजी)	... ५२
१५८ राममें ही आराम है	... (पूज्यपाद स्वामी श्रीभोलानाथजी महाराज)	... १२३५
१५९ रामायण और उसका हिन्दू-संस्कृतिपर प्रभाव	... (डा० मुहम्मद हाफिज सय्यद, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०)	... १०५६
१६० रामायणके रीछ, वानर और रावण	... (न्यायवागीश लाला श्रीडोरीलालजी)	... १०५०
१६१ रामायण बहुत प्रिय है	... (महाराजाधिराज सर विजयचन्द्र महाताब बहादुर, बर्दवान)	... ८८९
१६२ रामायण मानवमात्रकी बाइबिल है	... (श्रीयुत बी० एन० मेहता, आई० सी० एस०)	... ८८९
१६३ रामायण-शंका-समाधान	... (श्रीजयरामदासजी 'दीन', रामायणी)	... ११६९, १४२०

१६४ रामायण सर्वप्रिय पुस्तक है	... (श्रीयुत प्रिन्सिपल श्यामाचरण दे, एम० ए०, सेन्ट्रल हिन्दू कालेज)	... ८८९
१६५ रामायणसे आध्यात्मिक उत्थान	... (डा० वी० पट्टाभि सीतारामय्या)	... ८९०
१६६ रामायणसे आर्यसंस्कृतिकी रक्षा	... (सेठ श्रीजुगलकिशोरजी थिड़ला)	... ८९३
१६७ रामायणसे दिव्य प्रेरणा	... (श्रीयुत श्यामाप्रसाद मुकुर्जी, एम० ए०, एल-एल० वी०, बार-एट-ला, वाइस-चान्सलर, कलकत्ता विश्वविद्यालय)	५३
१६८ रामायणसे धर्म और अध्यात्मविद्याका विस्तार	... (देशरत्न बाबू श्रीराजेन्द्रप्रसादजी)	... ५४
१६९ रामायणसे शान्ति	... (श्रीजयरामदास दौलतराम)	... ८९३
१७० रामायण हमारा संजीवन अमृत है	... (श्रीयुत एस० सत्यमूर्ति, एम० एल० ए०)	... ८९२
१७१ 'लंगर मोरि गागर फोरि गयो'	...	... १२२८
१७२ लगन	... (श्री 'चक्र')	... १५०१
१७३ लक्ष्यकी ओर	... (श्रीप्रभाकरजी त्रिवेदी, एम० ए०, शास्त्री)	... १४७८
१७४ विश्वसाहित्यमें रामचरितमानसका स्थान	... (श्रीराजबहादुरजी लमगोड़ा, एम० ए०, एल-एल० वी०)	... १०१९
१७५ 'वीणा-मधुर'	... (श्रीगंगाधर बालकृष्ण देशपाण्डे)	... ८९१
१७६ वेद अपौरुषेय हैं	... (पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, न्याय-वेद-शास्त्री)	... १४०६
१७७ वैराग्य-चर्चा	... (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानके आधारपर)	१७७९
१७८ व्यवहारका आधार	... (पं० श्रीविष्णुदत्तजी शर्मा, वी० ए०)	... १५०४
१७९ शंका-समाधान	...	... ११०७
१८० शोक किसको नहीं छूता	... (महाभारत, मोक्षधर्मपर्व १७४। ३९-४२)	...
१८१ श्रद्धा और विश्वास	... (श्रीहरदत्तजी दूवे, एम० ए०)	... १३२७
१८२ श्रद्धा जीवनकी रीढ़ है !	... (श्रीरामनाथजी 'सुमन')	... १३२९
१८३ श्रद्धा-विश्वास	... (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	... १४६७
१८४ श्रीकृष्णस्तवन	... (महाभारत, शान्तिपर्व)	चैत्र टाइलका चौथा पेज
१८५ श्रीगोस्वामीजीका सिद्धान्तसार	... (रायबहादुर साहित्याचार्य श्रीजगन्नाथप्रसादजी 'भानु')	१०८५
१८६ श्रीगवारिया बाबाका वृन्दावन-वास	... (आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी)	११३८
१८७ श्रीदशरथजीके चरित्रसे शिक्षा	... (श्रीप्रियालालजी गुप्त)	... १०६२
१८८ श्रीबाबा गम्भीरनाथजी	... (श्रीअक्षयकुमार बन्धोपाध्याय, एम० ए०)	... ११४५
१८९ श्रीभरत-महिमा	... (पं० श्रीगोपीनाथजी)	... १७९५
१९० श्रीमगवन्नाम-जपके लिये प्रार्थना	... (श्रीनाम-जप-विभाग, कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर)	... १३१३
१९१ श्रीमानसगत रामगीता	... (पं० श्रीजयरामदासजी 'दीन', रामायणी)	... ९५२
१९२ श्रीमानसमें नाम-गुण-महिमा	... (बाबा श्रीरामदासजी महाराज)	... ९५१
१९३ श्रीमानसमें शरणागतवत्सलता	... (पं० श्रीहरिवंशजी जोशी, काव्य-सांख्य-स्मृतितीर्थ, सं० जीवनविज्ञान)	... १७९५
१९४ श्रीमानस-शंका-समाधान	... (श्रीजयरामदासजी 'दीन', रामायणी)	... १८११
१९५ श्रीरामका स्वरूप और उनकी प्रसन्नताका साधन	... (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	... १०७४
१९६ श्रीरामचरितमानस (सटीक)	...	५७ से ८८७
बालकाण्ड	...	५७ से ३२२
अयोध्याकाण्ड	...	३२३ से ५४५

अरण्यकाण्ड	...	...	५४६ से ५९४
किष्किन्धाकाण्ड	...	...	५९५ से ६२०
सुन्दरकाण्ड	...	...	६२१ से ६६५
लंकाकाण्ड	...	...	६६६ से ७७१
उत्तरकाण्ड	...	...	७७२ से ८८७
१९७ श्रीरामचरितमानस	...	(श्रीताराचन्दजी पाण्ड्या, बी० ए०)	... १०८७
१९८ श्रीरामचरितमानसका एक दोहा	...	(पं० श्रीजयरामदासजी 'दीन', रामायणी)	... १२४३
१९९ श्रीरामचरितमानसका तात्पर्य	...	(स्वामीजी श्रीरामदेवजी महाराज)	... १७१५
२०० श्रीरामचरितमानसका दार्शनिक सिद्धान्त	...	(श्रीमत्परमहंस परिव्राजकचार्य स्वामीजी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती)	... ९३१
२०१ श्रीरामचरितमानसका दार्शनिक सिद्धान्त	...	(साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)	... ९७४
२०२ श्रीरामचरितमानसके प्रणयनका दिन	...	(पं० श्रीरिवारामजी पाण्डेय तथा श्रीरासबिहारी 'शरण')	... १७३५
२०३ श्रीरामचरितमानस—भारतीय साहित्यका एकमात्र महाकाव्य	...	(श्रीयुत ए० बी० पुरानी, श्रीअरविन्दाश्रम)	... १०४४
२०४ श्रीरामचरितमानसमें नारीजाति	...	(श्री 'शान्त')	... १०३५
२०५ श्रीरामचरितमानसमें भरतजीकी महिमा	...	(पं० श्रीगोपीनाथजी)	... १६४६, १७९५
२०६ श्रीरामचरितमानसमें विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त	...	(श्रीस्वामी रामवल्लभाशरण (जी) महाराजस्याश्रित वेदान्ती श्रीरामपदार्थदासजी)	... ९४२
२०७ श्रीरामचरितमानसमें श्रीरामनामकी महिमा	(स्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती)	...	... ९३३
२०८ श्रीरामचरितमानस सच्चा इतिहास है	...	...	... १०६१
२०९ श्रीरामचरितमानससे जीवोंका कल्याण	...	(पू० श्रीरामबालकदासजी महाराज, 'रामायणी')	... ५३
२१० श्रीरामचरितमानसानुसार सत्य क्या है	...	(श्रीप्रेमप्रकाशजी महाराज)	... १११५
२११ श्रीरामशलाका प्रभावली	...	...	... २०
२१२ श्रीरामायणके अखण्डपाठकी महिमा	...	(श्रीआशारामजी शर्मा)	... १२६०
२१३ श्रीरामार्चाविधि और माहात्म्य	...	...	... ८९८
२१४ श्रीश्रीरूपकलाजीके चौदह उपदेशरत्न	...	...	... १२१५
२१५ संतवाणी	...	(संकलित)	... १८४२
२१६ संकीर्तन	...	(श्रीराधेकृष्णजी गुप्त)	... १७५३
२१७ संतोष	...	(श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)	... १८३७
२१८ सचित्र रामचरितमानस	...	(राय श्रीकृष्णदासजी)	... १०९२
२१९ सच्चा साधु कौन है ?	...	(श्रीमद्भागवत ११।११।२९-३१) पौष टाइलका चौथा पेज	...
२२० सच्ची शरण	...	(बहिन श्रीरैहाना तैयबजी)	... १७४८
२२१ सतीत्वका तेज	...	...	... १४९१
२२२ सत्यकी जय	...	(श्रीविष्णुदत्तजी पयैना)	... १३५०
२२३ सत्यानाशी नशा	...	('शुभङ्कर')	... १२००
२२४ सत्संगति	...	(श्री 'चक्र')	... १६६२
२२५ सम्पादकका निवेदन	...	(श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	... ३
२२६ सहजावस्था	...	(पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम० ए०, बी० टी०)	... १३१९
२२७ सामूहिक कीर्तन और शक्ति	...	(स्वामी श्रीसत्यानन्दजी परमहंस)	... ११६७

२२८ सामूहिक हरिकीर्तनका प्रभाव
२२९ सिन्ध-पंजाबका तुहफा
२३० सुखकी खोज
२३१ स्मरण-कीर्तनका माहात्म्य
२३२ स्त्रीका अपराध
२३३ हनुमच्चरित्र
२३४ हमारा लक्ष्य और कर्तव्य
२३५ हानि क्या ?
२३६ हिन्दू-नारियिकि लिये
२३७ हृदयोद्धार
२३८ क्षमा-प्रार्थना

... (स्वामी श्रीसत्यानन्दजी परमहंस) ...	१३२२
... (प्रेषक-पं० श्रीजयरामदासजी 'दीन', रामायणी) ...	१६९४
... (श्रीझुमुकलालजी श्रीवास्तव) ...	१८१८
... (विष्णुपुराण) ...	ज्येष्ठ टाइलका चौथा पेज
...	१६७४
... (पं० श्रीहनुमानजी शर्मा) ...	१२५४
... (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ...	१६२२
... (श्री 'चक्र') ...	१८२७
...	११९९, १२७६
... (कुँवर श्रीराजेन्द्रसिंहजी, एम० ए०, एल-एल० बी०) ...	१५९६
... (सम्पादक) ...	११२१

पद्य-सूची

क्रम-संख्या

१ अनुरोध
२ अनूठी झाँकी
३ अनोखी गुरु-दक्षिणा
४ अभिलाषा
५ अरण्य-वृद्धन
६ आरती
७ उलहना
८ काहे रे बन खोजन जाई
९ गोपी-प्रेम
१० ,,
११ चारों मैया
१२ जो पै तुलसी न गावतो
१३ तुलसी और तुलसीकी रामकथा
१४ तुलसीकी कविता
१५ तुलसीदास
१६ तुलसी-वन्दना
१७ दीन बिनय
१८ पश्चात्ताप
१९ पुष्पाञ्जलि
२० प्रणतपाल राम
२१ बाल-लीलाका आनन्द
२२ भक्तिकी मैना
२३ भगवतरसिकृतीकी कुछ कुण्डलिया
२४ मनुष्य-शरीरका लाम
२५ महाराज
२६ मानस
२७ मानस-प्रबोध

लेखक

... (श्रीकिदारनाथजी 'वेकल') ...	१४१६
... (श्रीतुलसीदासजी) ...	१५२३
...	१४४३
... (श्रीतुलसीदासजी) ...	११७२
... (श्री 'बेवस' जी) ...	१६७३
... (श्रीप्रकाश चन्द्रजी वर्मा) ...	१७३७
... (श्रीकिदारनाथजी 'वेकल') ...	१८३०
... (श्रीनानकजी) ...	१४३५
... (श्रीसूरदासजी) ...	१७६३
... (,,) ...	आषाढ़ टाइलका चौथा पेज
... (श्रीतुलसीदासजी) ...	९२९
... (संग्रहीत) ...	५६
... (,,) ...	२
... (पं० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय, 'हरिऔध') ...	९३६
... (कविवर श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त) ...	९३०
... (संग्रहीत) ...	१
... (श्रीश्यामनारायणजी मिश्र 'इयाम') ...	१७५२
... (श्रीशिवनारायणजी वर्मा) ...	१७६२
... (पं० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय, 'हरिऔध') ...	९३१
...	१२८३
... (श्रीसूरदासजी) ...	फाल्गुन टाइलका चौथा पेज
... (श्रीशिवनारायणजी) ...	१५४१
...	१५१४
... (श्रीललितकिशोरीजी) ...	११२३
... (श्रीतुलसीदासजी) ...	१०३३
... (श्रीजगदीशजी झा 'विमल') ...	९५०
... (श्री 'हंस') ...	१७१४

२८ मानस-महिमा

२९ मानस-महिमा

३० सुख-कर्मल

३१ मेरे राम !

३२ यशोदाकी मनौती

३३ 'रामचरितमानस कवि तुलसी'

३४ राम-नामकी महिमा

३५ राम-फगुआ

३६ रामसे विनती

३७ ललित लरिकाई

३८ ब्रजकी शोभा

३९ विराट्-पूजन

४० शक्ति-शरण

४१ 'शरणागत'

४२ 'श्रीतुलसी-गुण-गान'

४३ श्रीरामायणजीकी आरती

४४ संसार क्या है

४५ समर्पण

४६ स्वरूपकी पहचान

४७ हमारी रति

४८ हरि कब आवहिंगे !

४९ हृदयकी चाह

५० "

... (पं० श्रीभगवतीप्रसादजी त्रिपाठी, एम० ए०, एल-एल०
बी०, काव्यतीर्थ) ... १२८

... (पं० श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय, शास्त्री, 'राम') ... १५०

... (श्रीभगवतरसिकजी) ... १४५३

... (रायसाहेब लाल लालचन्द्रजी) ... १००७

... (श्रीसरदासजी) ... १६८३

... (श्री 'विन्दु' ब्रह्मचारीजी) ... १०३४

... (श्रीतुलसीदासजी) ... १६०३

... (महात्मा जय गौरीशंकर सीतारामजी) ... १४७४

... (श्री 'सुदर्शनदासी' जी) ... ८९७

... १२०३

... १३६३

... ('कश्चित्') ... १४८८

... (पुरोहित श्रीप्रतापनारायणजी 'कविरत्न') ... ९८६

... (श्रीअवधविहारीजी श्रीवास्तव, 'अवधेश' साहित्यालङ्कार) १७४४

... (पं० श्रीगोकुलनन्दजी तैलङ्ग) ... ११०६

... ८८८

... (श्रीसुदर्शन' जी) ... १६४५

... (श्रीकुँवर मोहरसिंहजी चन्देल 'कैसरी') ... १६९३

... (श्रीतुलसीदासजी) ... ९४१

... (कविवर श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त) ... १०८५

... (श्रीसरदासजी) वैशाल टाइलका चौथा पेज

... १५३९

... (श्रीहोमवती देवी) ... १८१९

चित्र-सूची

सुनहरे

क्रम-संख्या

पृष्ठ-संख्या

क्रम-संख्या

पृष्ठ-संख्या

१ जुगल सरकार (प्राचीन) ... ९००

२ दशरथके भाग्य (श्रीरामप्रसाद चित्रकार) १७

३ भगवान् श्रीरामचन्द्रजी (") १

४ शिशु-लीला—१ (") ३३

५ शिशु-लीला—३ (श्रीरामप्रसाद चित्रकार) २०५

६ श्रीभरतजी (") ३२३

७ श्रीराम-दरबार (") ५७

८ श्रीहनुमान्जी (श्रीरामसहाय, अलवर) ६२१

बहुरंगे

९ अमिका चरुदान (श्रीजगन्नाथ) ... १९८

१० अग्नि-परीक्षा (बहिन शकुन्तला) ... ७५८

११ अनूठी झाँकी (श्रीरामसहाय, अलवर) १५२३

१२ अयोध्यामें आनन्द (प्राचीन) (पण्डित

श्रीहनुमान्जी शर्माकी कृपासे प्राप्त) ३१२

१३ अशोकवाटिका-ध्वंस (श्रीविनयकुमार मित्र) ६३५

१४ काकमुशुण्डिजीकी कथा (") ८१९

१५ कुबरीकी कुशिक्षा (श्रीजगन्नाथ) ... ३३८

१६ गुरु-दक्षिणा (श्रीविनयकुमार मित्र) ... १४४३

१७ गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज (श्रीविनय- कुमार मित्र)	...	२४	३९ प्रथम दर्शन (")	...	२३१
१८ ग्वालिनीका प्रेम (श्रीविनयकुमार मित्र)	१७६३		४० बालरूप श्रीरामजी (श्रीविनयकुमार मित्र)	१०३३	
१९ चारों भैया (")	९२९		४१ बालि-सुग्रीव-युद्ध (")	६०३	
२० चित्रकूटमें (")	५३०		४२ भरद्वाज-भरत (")	४६५	
२१ चूडामणि सौंपना (")	६४३		४३ मकरी-उद्धार (")	७१०	
२२ जटायुकी स्तुति (")	५४६		४४ मनु शतरूपापर कृपा (")	१६९	
२३ जटायुपर प्रेम (श्रीभवानीप्रसाद मित्तल)	५८०		४५ मन्दोदरीका विलाप (श्रीउपेन्द्रकुमार मित्र)	७५४	
२४ जनकजीके द्वारपर (प्राचीन) (पण्डित हनूमान्जी शर्माकी कृपासे प्राप्त)	२८७		४६ माखन-वितरण (श्रीजगन्नाथ)	१२०३	
२५ जनकपुरमें राम-लक्ष्मण (श्रीजगन्नाथ)	२२१		४७ मेघनादका यज्ञविध्वंस (")	७२५	
२६ जन्मोत्सव (प्राचीन) (पं० हनूमान्जी शर्माकी कृपासे प्राप्त)	२०३		४८ राम-नामकी महिमा (श्रीविनयकुमार मित्र)	१६०३	
२७ जाम्बवान् और हनुमान्जी (श्रीजगन्नाथ)	६१९		४९ रावणकी सभामें अंगद (श्रीजगन्नाथ)	६९३	
२८ ताड़का-उद्धार (श्रीविनयकुमार मित्र)	२१३		५० रावण-मन्दोदरी (श्रीविनयकुमार मित्र)	६९५	
२९ तुलसीदासजी श्रीराम-सीता-लक्ष्मणके ध्यानमें. (श्रीकनु देसाई) ऊपरका मुखपृष्ठ			५१ लक्ष्मणका सुग्रीवपर कोप (")	६११	
३० तुलसी-पूजन (श्रीजगन्नाथ)	१६८३		५२ लक्ष्मणको उपदेश (")	६०६	
३१ दशरथ-मरण (")	४२८		५३ वनवासियोंका प्रेम (श्रीजगन्नाथ)	४००	
३२ दूल्हा राम (श्रीविनयकुमार मित्र)	२९८		५४ विभीषणद्वारा वस्त्राभूषणोंकी वर्षा (श्रीव्रजेन्द्र)	७६६	
३३ देवीपूजन (श्रीभवानीप्रसाद मित्तल)	२२६		५५ वृन्दावनकी शोभा (श्रीजगन्नाथ)	१३६३	
३४ नन्दकुमार (श्रीरामसहाय, अलवर)	११२३		५६ शरणागतकी रक्षा (श्रीउपेन्द्रकुमार मित्र)	१२८३	
३५ परात्पर ब्रह्म श्रीराम (")	६६६		५७ शिवजीकी वरात (मास्टर रामप्रसाद सरजू- प्रसाद, जयपुर)	१३१	
३६ पर्णकुटीके पहरेदार (श्रीरामगोपाल विजय- वर्गीय)	५४१		५८ शिव-पार्वती (श्रीविनयकुमार मित्र)	१४६	
३७ पादुका-दान (श्रीव्रजेन्द्र)	५३८		५९ शिशु-लीला—२ (श्रीव्रजेन्द्र)	१४५	
३८ पुष्पकविमानपर (श्रीजगन्नाथ)	७७२		६० श्रीरामराज्याभिषेक (श्रीजगन्नाथ)	७८४	

दुरंगे (सिल्हौटा)

६६-दशरथ और विश्वामित्र (श्रीकनु देसाई)	२११	६८-लंकादहन (श्रीकनु देसाई)	६४०
६७-मंथराकी माया (")	३३२	६९-स्वर्णमृग (")	५७५

दुरंगे (सुनहरी)

७०-भरतने बाण मारा (श्रीजगन्नाथ)	७०९	७२-हनुमान्का लौटना (श्रीजगन्नाथ)	७१३
७१-भरत-हनुमान्-मिलन (")	७१३	७३-हनुमान् संजीवनी लाने चले (")	७०९

इकरंगे

७४-अत्रिके अतिथि	५४९	७८-आकाशमें मुण्ड और बाहु	७४१
७५-अत्रिके आश्रममें	५४९	७९-आनन्दकी बाढ़	७७६
७६-अनसूयाका प्रेम	५४९	८०-इष्टदेवकी पूजा	२०७
७७-अयोध्यामें उत्साह	७७६	८१-कुबरीको दण्ड	४३३

८२-कैवटके भाग्य	...	३९२	१२१-पार्वती-परीक्षा	...	११२
८३-कौसल्याकी महानता	...	३६१	१२२-पार्वती-प्रश्न	...	१०९२
८४-खरका उद्धार	...	५६५	१२३-पिताकी सीख	...	३०६
८५-खरके पास पुकार	...	५६५	१२४-पिताका स्नेह	...	३०६
८६-गंगाजीसे प्रार्थना	...	३९२	१२५ पुत्रका स्वागत	...	४३३
८७-गंगा-पार	...	३९२	१२६ पूँछपर तेल-घी	...	६३६
८८-गिरिकन्दरामें सीताजी	...	५६५	१२७ पूँछमें आग लगाना	...	६३६
८९-गुरुको प्रणाम	...	३६१	१२८ प्रभुका ऐश्वर्य	...	७७६
९०-गुरु-चंदन	...	७७६	१२९ फुलबारी	...	१०९५
९१-ग्रामीणोंका प्रेम	...	४०९	१३० बाल-विनोद	...	१०९४
९२-घोड़ोंका विरह	...	३८७	१३१ विभीषणका लंकात्याग	...	६५२
९३-चन्द्रोदय	...	१०९५	१३२ विभीषणपर चरणप्रहार	...	६५२
९४-चित्रकूटसे विदा	...	५४९	१३३ भयभीत जयन्त	...	५४७
९५-जन्मोत्सव	...	१०९३	१३४ भरतका असहकार	...	४३३
९६-जयन्तकी नीचता	...	५४७	१३५ भरतका प्रेम	...	४५७
९७-जयन्तपर कृपा	...	५४७	१३६ भरतका विषाद	...	४३३
९८-जयन्तपर कोप	...	५४७	१३७ भरत-निषाद-मिलन	...	४४९
९९-जयमाला	...	२५२	१३८ भरत-निषाद-मिलन	...	४५७
१००-जोगिनियोंका आनन्द	...	७५२	१३९ भरत-शत्रुघ्नका वनगमन	...	४४९
१०१-तोता-मैनाकी व्याकुलता	...	३०६	१४० भरद्वाज-मिथुन	...	४४९
१०२-दक्ष-यज्ञ-विध्वंस	...	११२	१४१ मंगल-कामना	...	७८०
१०३-दुलहीके सुन्दरकाण्डसे	...	११२०	१४२ माताओंकी वन्दना	...	७८०
१०४-धनुषकी ओर दृष्टिपात	...	२४९	१४३ माताका आश्चर्य	...	२०७
१०५-धनुषभंग	...	२४९	१४४ माताकी सीख	...	३०६
१०६-धनुषयज्ञशाला	...	२४९	१४५ मायानगरमें नारदजी	...	१६१
१०७-नगरनिवासियोंका प्रेम	...	४५७	१४६ मायामुक्त नारदजी	...	१६१
१०८-नाग-पाश-बन्धन-लीला	...	७३७	१४७ मारीचके पास सबण	...	५७३
१०९-नारदजीका भविष्य-कथन	...	११२	१४८ माल्यवानपर रावणका कोप	...	७०४
११०-नारदजीका मोह	...	१६१	१४९ मेघनादपर त्रिशूलप्रहार	...	७३७
१११-निषादका उत्साह	...	४५७	१५० मेघनादपर पर्वतप्रहार	...	७०४
११२-निषादकी भेंट	...	३८७	१५१ मैनाकका सम्मान	...	६२५
११३-नैवेद्य-स्वीकार	...	२०७	१५२ यात्रामें मर्यादा	...	४०२
११४-पथिकोंका प्रेम	...	४०२	१५३ रणभूमि	...	७३७
११५-परिचय-प्रदान	...	४०२	१५४ राजाओंका दर्प चूर्ण	...	२४९
११६-परशुरामजीका कोप	...	२५२	१५५ रामके लिये देव-रथ	...	७४१
११७-परशुरामजीका मोहभंग	...	२५२	१५६ रामजीका सतीसे प्रश्न	...	१०४
११८-पहरेदार लक्ष्मण	...	३८७	१५७ रामजी पालनेमें	...	२०७
११९-पाखण्डनाश	...	७५२	१५८ रामजीकी पर्णकुटी	...	४०९
१२०-पार्थिव-पूजन	...	३९२	१५९ राम-भरत-मिलन	...	४४९

१६० रामसखाओंका गुरु-वन्दन	...	७८०	१८२ शिविरद्वारपर विभीषण	...	६५२
१६१ रामसखाओंका मानु-वन्दन	...	७८०	१८३ शूर्पणखाको दण्ड	...	५६५
१६२ रावणका पाखण्ड	...	७५२	१८४ श्रीरामका प्रेम	...	५७३
१६३ रावणकी माया	...	७४१	१८५ श्रीरामजीकी प्रसन्नता	...	३६१
१६४ रावणके दरबारमें	...	६३६	१८६ संपातीका विचार	...	६१७
१६५ रावणपर मुष्टिप्रहार	...	७३७	१८७ समुद्रतटपर	...	६१७
१६६ रावण-बाणासुर	...	२५२	१८८ सतीका आश्चर्य	...	१०४
१६७ रावणवध	...	७५२	१८९ सतीका कोप	...	१११
१६८ लंकादहन	...	६३६	१९० सतीकी अकुलाहट	...	१०४
१६९ लंकिनीका उद्धार	...	६२५	१९१ सीताविलाप	...	५७३
१७० वनवासिनी स्त्रियोंका अचरज	...	४०२	१९२ सुतीक्ष्णकी प्रेमयात्रा	...	५५६
१७१ वल्कल-वस्त्रादि दान	...	३६१	१९३ सुतीक्ष्णजीकी चतुरता	...	५५६
१७२ वशिष्ठ-आश्रम	...	१०९३	१९४ सुतीक्ष्णजीके हृदयमें चतुर्भुजरूप	...	५५६
१७३ वानर और राक्षसोंका युद्ध	...	७०४	१९५ सुतीक्ष्णजी रामके ध्यानमें	...	५५६
१७४ वानरोंकी चढ़ाई	...	७०४	१९६ सुमंत्रको सन्देश	...	३८७
१७५ वानर गुफामें	...	६१७	१९७ सुरसाकी प्रसन्नता	...	६३१
१७६ वाल्मीकिजीके अतिथि	...	४०९	१९८ सूकर-आखेट	...	१०९२
१७७ वाल्मीकिजीसे बातचीत	...	४०९	१९९ स्वर्णमृगके पीछे	...	५७३
१७८ विराट्मूर्ति	...	१०९४	२०० हरगणोंको शाप	...	१६१
१७९ शंकरकी समाधि	...	१०४	२०१ हनुमान्जीका प्रयाण	...	६१७
१८० शरणागतवत्सलता	...	७४१	२०२ हनुमान्जीका लघुरूप	...	६२५
१८१ शरणागत विभीषण	...	६५२			



कल्याण *

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र ।

ग्राहक-संख्या

गोरखपुर

प्रिय ग्राहक महोदय !

सप्रेम हरिस्मरण ।

इससे पहले ज्येष्ठके “कल्याण” द्वारा आपकी सेवामें नये वर्षका मूल्य भेजनेकी सूचना दी जा चुकी है । आपने अवगत इस सालका मूल्य नहीं भेजा हो तो अब तुरन्त भेज दें । क्योंकि जिनका मूल्य कार्यालयमें आ जायगा उनकी सेवामें कल्याण पहले भेजा जायगा ।

यदि आप वी० पी० से भेजना चाहते हैं तो आपको कोई सूचना भेजनेकी विशेष आवश्यकता नहीं है । क्योंकि जिन ग्राहकोंका मूल्य नहीं आवेगा और मनाही भी नहीं आवेगी उनकी “कल्याण” भेजनेमें सम्मति समझकर समयपर गीतातत्त्वांककी ४३) की वी० पी० भेज दी जायगी ।

यदि इस वी० पी० के साथ “कल्याण” की कोई फाइल या अंकविशेष भेजना हो तो लिखनेसे भेजा जा सकता है ।

जो सज्जन किसी कारणवश इस वर्ष ग्राहक न रहना चाहते हैं वे हमपर कृपा करके इस अङ्कके पाते ही इसी कागजके साथका कार्ड काटकर हमें ग्राहक न रहनेकी सूचना दे दें ताकि उनको वी० पी० नहीं भेजें और उनको एवं अपनेको कष्ट और हानिसे बचा सकें । आपके तीन पैसेके खर्चसे “कल्याण” की नौ आनेकी वचत होगी ।

यदि कार्यालयकी भूलसे आपके रुपया भेज देनेपर भी, या मनाही कर देनेपर भी, या पहले वी० पी० छुड़ा चुकनेपर भी, वी० पी० चली जाय तो कृपया उसे यथासाध्य प्रयत्न करके किसीको ग्राहक बनाकर रख लें ।

इस थोड़े-से परिश्रमसे कार्यालय कुछ हानिसे बच जायगा ।

वी० पी० डाकघरमें सिर्फ ७ दिन रुकती है । उसके छुड़नेमें देर करनेसे वी० पी० लौट आवेगी और कल्याण-कार्यालयको बेमतलब नुकसान पहुँचेगा, साथ ही आप गीतातत्त्वांकके रहस्यपूर्ण वर्णन पढ़ने और उसके चित्रोंके दर्शन करनेसे वञ्चित होंगे । इसलिये वी० पी० पहुँचते ही छुड़ा लेनी चाहिये ।

वी० पी० के विषयमें कुछ पूछना हो तो कल्याणके रैपरपर आपके पतेके पास छपे हुए ग्राहक-नम्बरसहित तुरन्त ही लिखें । नम्बर न लिखनेसे गोलमाल होनेका भय है ।

आपका कृपामिलावी—

व्यवस्थापक.

सूचना

(१) वी० पी० के रुपये हमें मिलनेपर ही आपका नाम ग्राहक-श्रेणीमें लिखा जाकर अगले अङ्क यथासमय प्रतिमास भेजे जा सकेंगे ।

(२) कल्याणके रैपरपर छपे पतेमें किसी भी प्रकारकी भूल हो तो तुरन्त सूचना देनी चाहिये । अन्यथा भविष्यमें अङ्क पहुँचनेमें गड़बड़ी हो सकती है ।

(३) कृपया ग्राहक-नम्बर नोट कर लें और पत्र देते समय अवश्य लिखें ।

(४) वी० पी० के ऊपरका कवर सँभालकर रखें ।

श्रीहरि:

ग्राहक नं० _____ अवश्य लिखिये !

मैनेजर कल्याण !

गोरखपुर

सप्रेम राम राम । गीतातत्त्वांक वी० पी० से भेजनेकी सूचना मिली ।

हम इस वर्ष कल्याणके ग्राहक _____ अवश्य _____ रहेंगे । कल्याण नहीं

का वा० मू० ४३) मनीआर्डरसे भेजते हैं ।
वी० पी० द्वारा नहीं भेजें ।

भवदीय—

नाम _____

पता _____

P. O. _____

(_____)

नोट—यदि आपको वी० पी० भेजना स्वीकार हो तो कार्ड छोटानेकी आवश्यकता नहीं है ।

कल्याणके अमूल्य विशेषांक और फाइलें

(कल्याणका वार्षिक मूल्य ४३ है ।)

- १-दूसरे वर्षके कुछ अंक-प्रति अंक ३) तीन आने । (भगवन्नामांक नहीं है)
- २-श्रीमक्तांक पृष्ठ २५०, चित्र ५५ दूसरा नवीन संस्करण मूल्य १॥ सजिल्द १॥३)
- ३-चौथे वर्षके कुछ अंक-प्रति अंक १) चार आने (गीतांक नहीं है)
- ४-छठे वर्षके कुछ अंक-प्रति अंक १) चार आने (कृष्णांक नहीं है)
- ५-सातवें वर्षके कुछ अंक-प्रति अंक १) चार आने (ईश्वरांक नहीं है)
- ६-दशवें वर्षका योगांक ३॥ स० ४) अन्य साधारण कुछ अंक-प्रति अंक १) चार आने ।
- ७-११वें वर्षकी फाइल (वेदान्तांकसहित) मूल्य ४३) दो जिल्दोंमें ५३)
- ८-१२वें वर्षकी फाइल (संतांकसहित) मूल्य ४३) दो जिल्दोंमें ५३)
- ९-१३वाँ वर्ष मानसांक प्रथम खण्ड केवल ३॥ स० ४) कुछ साधारण अंक प्रति अंक १) चार आने ।

'Kalyana-Kalpataru' (English Edition of Kalyan) Annual Subscription Rs. 4/3.

10. God-Number (Illustrated Pages 307) Rs. 2/8.
11. Gita-Number (Illustrated Pages 251) Rs. 2/8.
12. Vedanta-Number (Illustrated Pages 248) Rs. 2/8.
13. Divine Name-Number (Illustrated Pages 332) Rs. 2/8.
14. Dharma-Tattva-Number (Illustrated Pages 336) Rs. 2/8.

तीनपैसा
टिकट
लगाइये

POST CARD

Kalyan Karyalaya

GORAKHPUR.

U.P.

यदि गीतातत्त्वांककी वी० पी० के साथ "कल्याण" के ऊपर लिखे अंकोंमेंसे कोई मँगवाना हो तो हमें सूचित करनेसे सेवामें भेजा जा सकता है ।

मनीआर्डर फार्म

आपका चन्दा भेजनेके लिये मनोआर्डर फार्म ज्येष्ठके अंकोंमें भेजा जा चुका है । आपके मित्रों-को ग्राहक बनाकर उनका चन्दा भेजनेके लिये जितने फार्म चाहिये, लिखकर मँगवा लेनेकी कृपा करें ।

बार-बार विनय

ग्राहक-नम्बर

साल समाप्त होता है । आप नये वर्षका चन्दा भेजें या किसी कारण ग्राहक रहना न चाहें तो 'कल्याण' के गीता-

तत्त्वांककी वी० पी० न भेजनेकी सूचना हमें दे दें-दोनों ही बातोंमें आपके पूरे पतेसहित आपके ग्राहक-नम्बर लिखना जरूरी है जो रैपरपर आपके पतेके साथ छपा हुआ है । ग्राहक-नम्बर कृपया नोट कर लें ।

व्यवस्थापक—

कल्याण, गोरखपुर

मैं अपने इन मित्रोंको ग्राहक बनाकर भेजता हूँ । इनका एक वर्षका मूल्य वी० पी० द्वारा वसूल कर लें । मनोआर्डरद्वारा भेजता हूँ ।

नाम _____ पता _____ P.O. _____
नाम _____ पता _____ P.O. _____